
खण्ड 4 मन पर नियंत्रण के उपाय

इकाई 14	ध्यान (6/10–26) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
इकाई 15	आहार नियंत्रण (17/8–10) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
इकाई 16	काम नियंत्रण (3/36–40) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
इकाई 17	अहंकार त्याग (2/7, 47), (9/27, 8/7, 11/55) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
इकाई 18	नैतिक गुणों का विकास (12/11, 13 – 19, 9/11) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
इकाई 19	शारीरिक और मानसिक अनुशासन (17/14–19, 6/36) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
इकाई 20	संतुलित जीवन (3/8, 6/16–17) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या

खण्ड 4 परिचय

संस्कृत पाठ्यक्रम का यह चतुर्थ खण्ड है। जिसका नाम 'मन पर नियंत्रण के उपाय' है। इस खण्ड में सात इकाईयां हैं। इस खण्ड की सभी इकाईयां भगवद्गीता नामक हमारे धार्मिक ग्रन्थ से सम्बन्धित है यद्यपि भगवद्गीता का व्यापक प्रकाश व पठन – पाठन होता रहा है तथापि मूल रूप से यह संस्कृत महाकाव्य महाभारत की एक उपकथा के रूप में प्राप्त होती है। भगवद्गीता का उपदेश कृष्ण – अर्जुन के संवाद रूप में होता है, जिसमें कृष्ण उपदेश कर्ता हैं और अर्जुन श्रोता के रूप में हैं। इस खण्ड में आप 'मन पर नियंत्रण के उपायों में' – ध्यान, आहार नियंत्रण तथा काम नियंत्रण, अहंकार त्याग, नैतिक गुणों का विकास और शारीरिक और मानसिक अनुशासन तथा संतुलित जीवन इन सभी के श्लोक, अनुवाद सहित व्याख्या का अध्ययन करेंगे।

तकनीकी और कठिन शब्दों को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक इकाई में आवश्यक शब्दावली दी गई है तथा कुछ बोधगम्य प्रश्न दिए गये हैं। साथ ही अध्ययन में सहायक उपयोगी पुस्तकों की सूची प्रत्येक इकाई के अन्त में दी गई है। इन पुस्तकों का सहयोग लेकर आप सम्बन्धित विषय का और अधिक अध्ययन कर सकते हैं।

शुभकामनाओं के साथ

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 14 ध्यान

इकाई की रूपरेखा

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 ध्यान (6/10-26) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
- 14.3 सारांश
- 14.4 शब्दावली
- 14.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- गीता में वर्णित 'ध्यान' योग के विषय में जान सकेंगे।
- ध्यान योग से पूर्व शुद्धता तथा शारीरिक स्थिरता के विषय में जानेंगे।
- योगी द्वारा मन को किस प्रकार से वश में किया जाता है यह ज्ञान होगा।
- आत्मस्थित योगी के विषय में जान सकेंगे।
- योग का अभ्यास किस प्रकार से सिद्ध होता है इस विषय में जान सकेंगे।
- शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन के विषय में जान सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

गीता में कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए संवाद में कृष्ण द्वारा अर्जुन के अनेक संशयों का निराकरण किया जाता है तथा अनेक जीवन के रहस्यों और उद्देश्यों का उपदेश दिया जाता है जिसमें 'ध्यान कर्म योग' एक मुख्य विषय है। जिसमें कृष्ण अर्जुन को ध्यान साधना से प्राप्त होने वाले अनेक परिणामों के विषय में बताते हैं, किस प्रकार ध्यान समाधि में स्थित होना चाहिए और किस प्रकार अपने मन को नियन्त्रित करके सांसारिक विषयों से मुक्त होकर परमात्मा में अपने ध्यान को अवस्थित करें। ध्यान से अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में करके बाहरी सांसारिक विषयों से व्यक्ति मुक्त होकर परमानन्द का अनुभव कर सकता है, तथा मन को आत्मस्थित करके ही मनुष्य निर्वातदीप के भाँति अनेक कठिन परिस्थितियों में भी विचलित नहीं हो सकता। योग साधना के निरन्तर अभ्यास से काम, क्रोध, मोह आदि षड् रिपुओं (शत्रुओं) का दमन करके अन्तःकरण (मन) को शान्ति प्राप्त हो। 'ध्यान' योग हर मनुष्य के जीवन में वह विज्ञान है जो उसके शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा अध्यात्मिक सभी का विकास कर सकता है। इस प्रकार से ध्यान हमारे जीवन के लिए महत्वपूर्ण और उपयोगी हो जाता है। ध्यान के विषय में अधोलिखित प्रस्तुत 'ध्यान' नामक इकाई में विस्तृत वर्णन किया गया है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥६/१०॥

अनुवाद —मन और आत्मा (इन्द्रियों) सहित शरीरको, अन्य विषयों से हटाकर, संग्रह भाव से रहित, अकेले ही एकान्त स्थान में स्थित होकर योगी हमेशा स्वयं (मन शरीर एवं आत्मा) को समाधि में लगाये।

व्याख्या —योगी को चाहिए कि वह निरन्तर अपने शरीर, मन तथा आत्मा को वश में करके, इच्छाओं से रहित अर्थात् वैराग्य द्वारा सब विषय भोगों को त्यागकर, संग्रहण करने की भावना को त्यागकर, अकेला ही किसी एकान्त स्थान में जाकर (जहाँ समाधि में किसी भी प्रकार की बाधा न आये) योग का अभ्यास करें।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥६/११॥

अनुवाद —उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करें।

व्याख्या —आसन के स्थापन के पश्चात् क्या करें — इस विषय में यहाँ कहते हैं कि — साधक को चाहिए कि वह अपने मन को सभी सांसारिक विषयों से हटाकर ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ दोनों को ही वश में कर मन को अंतर्मुखी तथा एकाग्रचित्त करके (यतचित्तेन्द्रियक्रिय), आत्म शुद्धि (अविद्या और अविद्या के कार्यरूप जैसे मेरा— तेरा— मैं आदि मिथ्या मोह—वासनाओं की निवृत्ति) अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करें।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥६/१२॥

अनुवाद —मन तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करते हुए, शुद्ध (पवित्र) भूमि में, न अत्यधिक ऊँचा और न अत्यधिक नीचा, मृगछाला तथा कुश का आवरण (ऐसे) स्वयं के आसन को स्थापित करके, उस आसन पर बैठकर, मन को एकाग्र करके, अन्तःकरण (हृदय) की शुद्धि के लिये, योग का अभ्यास करें।

व्याख्या —योगाभ्यास के लिए आसन का चयन— जो स्थान शुद्ध स्वच्छ किया हुआ हो, जैसे नदी किनारे अथवा गुफा आदि निर्जन स्थान में जो पवित्र किया हुआ हो, समाधि का आसन ऐसा हो जो न अधिक ऊँचा हो न ही अधिक नीचा हो अर्थात् जिस स्थान पर सुख पूर्वक बैठा जा सके, साधक द्वारा आसन पर क्रमपूर्वक पहले कुशा बिछाए फिर मृगचर्म अन्तिम में मुलायम वस्त्र का प्रयोग में लायें, (इन सभी को ध्यान में रखकर साधक को पवित्र स्थान के साथ साथ सुखासन का ध्यान रखना चाहिए)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥६/१३॥

अनुवाद —शरीर, सिर और गर्दन को समान तथा सीधा धारण करते हुए, स्थिर होकर अपनी नासिका के आगे वाले भाग को देखकर, और (अन्य) दिशाओं को न देखते हुए।

व्याख्या —आसन में स्थित शरीर की अवस्था — आसन पर बैठे हुए योगाभ्यासी के शरीर की अवस्था कैसी हो इस विषय में कहते हैं, आसन पर स्थित साधक अपने अपने काय (काय अर्थात् कमर का ऊपर वाला हिस्सा) के साथ साथ अपने शिर तथा गर्दन को (कायशिरोग्रीवा) बिना हलचल अचलरूप से धारण करता हुआ तथा अपनी नासिका के अग्रभाग को एकटक लगाकर देखता हुआ जिससे अन्य जगह दृष्टिपात न हो केवल एक ही केन्द्रबिन्दु पर ध्यान लगा रहे। (इसी प्रकार हमें अन्य ज्ञानेन्द्रियों को भी समझना चाहिए जो कि बाह्य विषयों पर ध्यान न देते हुए अंतःकरण की ओर ही ध्यान केन्द्रित करें।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः॥६/१४॥

अनुवाद —अविचलित शान्त अन्तःकरण (मन) वाला, भय से रहित, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित (होकर), मन को नियन्त्रित करके, मुझमें (कृष्ण में) मन को (लगाने वाला), मुझमें आसक्त होकर स्थित होवे (बैठे)।

व्याख्या —प्रशान्तात्मा— राग—द्वेष, इष्ट—अनिष्ट, प्रीति—अप्रीति आदि सभी विषयों से रहित मन अच्छी प्रकार से शान्त हुए अन्तःकरण वाला, विगत भी — भय जिसका दूर हो गया है सभी प्रकार के कर्मों के परित्याग से, ब्रह्मचारीव्रतेस्थित— ब्रह्मचर्य धारण करने वाला जिसने भिक्षा लेकर भोजन करने वाला गुरु के समीप जाकर गुरुसेवा करके ज्ञान प्राप्त करने वाला, मनःसंयम्य— बाहरी विषयों में प्रवृत्त मन का संयम करके यानि मन की वृत्तियों का निग्रह करके, मच्चिद — मुझमें जिसका चित्त लगा हुआ है जिसने बाहरी सांसारिक विषयों में जाने वाले चित्तका संयम करके मुझमें भली—भांति स्थापित कर दिया है, स्वयं को मुझमें आसक्त कर लिया है, और मुझे ही सर्वश्रेष्ठ मानता है।

युज्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६/१५॥

अनुवाद —इस प्रकार से संयमित किये हुए मन वाला योगी हमेशा स्वयं (शरीर, मन तथा आत्मा) को मुझ परममोक्ष स्वरूप (परमेश्वर) में लगाते हुए, मुझमें स्थित (परमानन्द) शान्ति को प्राप्त करता है।

व्याख्या —यहाँ योग के फल के विषय में बताते हैं — जिसने अपने मन पर पूर्णरूप से नियन्त्रण पा लिया है, जिसने निरन्तर योगाभ्यास के द्वारा आत्मशुद्धि कर लिया है ऐसा योगी आत्मा का समाधान करते हुए अपनी आत्मा को और मन को, श्रद्धा से (मुझमें) ब्रह्म में अनुसन्धान करता हुआ, बारम्बार (मुझमें) परमात्मा में अपने मन को स्थिर कर, शरीर सम्बन्ध से रहित, परमपुरुषार्थ कैवल्य की प्राप्ति जिससे हो ऐसे मोक्षरूप शान्ति को पाता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६/१६॥

अनुवाद —हे अर्जुन ! न तो अधिक भोजन खाने वाले का योग (सिद्ध होता है), और न बिल्कुल भोजन (त्याग) करने वाले का, और न ही अत्यधिक शयन करने वाले का, और न हमेशा जागे हुए का ही (योग सिद्ध) होता है।

व्याख्या —योगी के लिए उपयुक्त आहार नियम — बहुत भोजन करने वाले का अर्थात् जितनी पेट की क्षमता है उससे से अधिक भोजन करने वाले का योग सिद्ध नहीं होता, और न ही बिल्कुल न खानेवाले का योग सिद्ध होता है, क्योंकि यह श्रुति है कि 'जो अपने उदर(पेट) की क्षमता के अनुसार अन्न खाता है वह अन्न उसकी (जीव की) रक्षा करता है, यह पीड़ा नहीं देता। जो भोजन अधिक खाता है वह हानि पहुँचाता है और जो प्रमाण से कम होता है जितनी आवश्यकता शरीर की है उतना भोजन का न मिलना शरीर के लिए प्रतिकूल है, इसलिए वह रक्षा नहीं करता। इसलिये साधक को चाहिये कि शरीर की उदरपूर्ति के लिये जितना भोजन उपयुक्त हो उतना ही ग्रहण करें, उसमें कम या ज्यादा अन्न न खायें। योगी के लिये कितना खाना उपयुक्त है योग शास्त्र में इस विषय में कहते हैं कि — अन्न का जो परिमाण है उससे अधिक खाने वाले का योग सिद्ध नहीं होता। इसलिए सन्तुलित परिमाण यह है कि पेट का आधा भाग अर्थात् दो हिस्से तो शाक — पात आदि सहित भोजन के लिए, तीसरा भाग जलसे पूर्ण होना चाहिये वहीं चौथा भाग वायु के आवागमन के लिये खाली रखना चाहिये — इत्यादि। तथा हे अर्जुन ! इसी प्रकार न तो बहुत सोने वाले का ही योग सिद्ध होता है और न ही अधिक जागने वाले को ही योग — सिद्धि को प्राप्त होती है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६/१७॥

अनुवाद —नियमित आहार— विहार (आमोद—प्रमोद) करने वाले का, (धार्मिक) कार्यों में यथासमय इच्छा रखने वाले का, समयानुसार निद्रा तथा जागरण करने वाले का, योगाभ्यास दुःखों का नाश करने वाला होता है।

व्याख्या —योग सिद्ध कैसे होती है ? — यह कहते हैं। भोजन उतना ही करें जितना उदर(पेट) के लिए आवश्यक हो जितने में पेट की पूर्ति हो उतना ही खाएं उससे अधिक नहीं, योगाभ्यासी के लिए शास्त्रानुकूल परिमित आहार— विहार होता है विहार — अर्थात् पैरों की क्रिया अत्यधिक संचलन न हो और कर्मों में जैसे भोजन विसर्गादि क्रियाओं में जिसकी चेष्टा नियमित परिमाण से होती है, अर्थात् जितने से कार्य सिद्धि हो जाय उतनी, निद्रा और जागरण ये दोनों कार्य ही जिसके समयानुसार हैं—परिमित हैं, अर्थात् 'दश नाड़ी (घड़ी) जागे, दश नाड़ी निद्रा लें, पीछे दश नाड़ी जागे, इस प्रकार से योगी की दश नाड़ियाँ बतायी गयी हैं। आहार—विहार, निद्रा के अधिक होने से राजस और तामस की वृद्धि होती है। जिससे समाधि में विघ्न होता है। इसीलिए इन सभी का परिमित एक समान होना आवश्यक है इस प्रकार के लक्षणों से युक्त 'योग' साधक के दुःखों का नाश करने वाला होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६/१८॥

अनुवाद —जिस समय विशेष रूप से (योगी द्वारा) वश में किया हुआ मन, स्वयं में ही भलीप्रकार से स्थित हो जाता है, उस समय सभी प्रकार के भोगों (सांसारिक भोग विषयों) से रहित पुरुष योग(समाधि) में स्थित है, इस प्रकार कहा जाता है।

व्याख्या —साधक कब समाधिस्थ हो जाता है यह बताते हैं— शरीर के बहिरंग एवं अन्तरंग साधनों के द्वारा निरन्तर योगाभ्यास करने वाले साधक द्वारा, विषयों के सम्बन्ध से रहित प्रयत्नपूर्वक वश में किया हुआ मन अर्थात् बलपूर्वक एकाग्रता को प्राप्त हुआ चित, सम्पूर्ण वासनाओं, सभी कामनाओं और बाहरी विषयों के नष्ट हो जाने पर स्वयं

सत् (आत्मा-परमात्मा) के स्वरूप में एकीभाव हो जाने पर नित्य स्व (स्वयंमे-समाधिमे) स्वरूप में ही स्थित हो जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥६/१६॥

अनुवाद —जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक हिलता-डुलता (विचलित) नहीं, (उसी प्रकार) परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के वश में किये हुए मन की तुलना की गयी है।

व्याख्या —योगी का समाधि में स्थित जो चित्त है उसकी उपमा में कहते हैं कि—जिस प्रकार वायु रहित स्थान पर रखा हुआ दीपक विचलित नहीं होता, उसी प्रकार आत्मस्वरूप परमात्मा में लगा हुआ आत्मवित्त का चित्त विचलित नहीं होता। आत्मा को लक्ष्य करके अभ्यास करनेवाले योगी द्वारा वश में किये हुए चित्त की अर्थात् मन की गतिको प्रत्यक्ष देखने वाले योगवेत्ता पुरुषों ने मानी है। जिससे सादृश्य बतलाया जाता है वह उपमा है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥६/२०॥

अनुवाद —जिस अवस्था में योग के अभ्यास से विषयों से निवृत्त मन उपशम को प्राप्त होता है और जिस अवस्था में (आत्म चिन्तन से) विशुद्ध बुद्धि द्वारा परब्रह्मस्वरूप परमात्मा को देखता हुआ स्वयम् में ही सन्तुष्ट रहता है।

व्याख्या —अन्तरंग एवं बहिरंग शारीरिक साधनों की सिद्धि से योगाभ्यासी द्वारा सम्पूर्ण विषय-वासनाओं को त्यागकर, चंचलता से युक्त मन को सभी ओर से नियंत्रित करके जिस काल में साधक का मन केवल अपने शुद्ध सत्त्वांश से उपशमता को प्राप्त होता है। तथा जिस समय योगाभ्यासी द्वारा अति निर्मल स्वच्छ हुए अन्तःकरणसे आकाश में पूर्ण चन्द्रबिम्ब के सामान तेजोमयी परब्रह्म स्वरूप आत्माका साक्षात् हो जाता है उस समय वह स्वयं स्वरूप में ही सन्तुष्ट हो जाता है और तृप्तपूर्ण आनन्द का लाभ लेता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥६/२१॥

अनुवाद —जिस अवस्था में विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धि से ग्रहण करने योग्य एवं इन्द्रियों से अतीत (जिसे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण न किया जा सके केवल सूक्ष्म बुद्धि से ही ग्रहण योग्य) जो उस परम आनन्द का अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह (योगी) आत्मा के स्वरूप से विचलित होता ही नहीं।

व्याख्या —जो सुख केवल (बुद्धिग्राह्य) योगियों के सत्त्वस्वभाव वाली सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा ही ग्रहण किया जाने योग्य (केवल स्ववृत्ति ग्राह्य) है, अतीन्द्रिय है — इन्द्रियों तथा विषयों के सम्बन्ध से रहित, जो इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है, वह सुख आदि तथा अन्त से रहित अनन्त है वही सुख परमानन्द है, जिस काल में तथा जिस अवस्था में योगी (साधक) उस आत्म आनन्द का अनुभव कर लेता है तथा जिस काल में योगी मन की एकाग्रवृत्ति से स्वस्वरूप स्वात्म में स्थित हो जाता है और उसका अनुभव करता है तब वह योगी उस आत्मतत्त्व के वास्तविक स्वरूप से विचलित नहीं होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥६/२२॥

अनुवाद —जिस (आत्मतत्त्व) को प्राप्त करके (जो) उससे अधिक (श्रेष्ठ) दूसरा कोई भी लाभ नहीं मानता। जिस अवस्था में स्थित होकर (योगी) अत्यन्त भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता।

(योगी के लिए) आत्मा का साक्षात्कार करना ही परम लाभ है आत्मा की उत्पत्ति का परम कारण जिस निर्विकल्प समाधि और उसके कार्यभूत आत्मलाभ को प्राप्त कर साधना में रत योगी किसी अन्य अनात्मविषय के लाभ को आत्मलाभ के विषय से अधिक नहीं मानता और आत्मा के अलावा अन्य सभी पदार्थ असत्, मायिक, मिथ्या और दुःख के बीज हैं इस प्रकार जानकर योगी इनके लाभ को तुच्छ मानकर इनका स्मरण नहीं करता। अंतःकरण आत्मतत्त्व में अवस्थित होकर आभ्यांतर बाह्य विषयों को भुलाकर सद्भाव को प्राप्त हुई वृत्ति से योगी भौतिक तथा आध्यात्मिक महान दुखों से विचलित नहीं होता।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥६/२३॥

अनुवाद —उसको (समाधि अवस्था) दुःख रूपी भौतिक विषयों से रहित योग (इसप्रकार) जानना चाहिए। वह योग विचलित हुए बिना, धीरज और उत्साह युक्त मन से दृढ़ता के साथ अभ्यास करना चाहिए।

व्याख्या —यहाँ योग के लक्षणों को बताया गया है — बाह्य विषयों के उपशमन से पवित्र हुए मन अन्तःकरण की अवस्था को योग ऐसा जानना चाहिए, दुःखसंयोगवियोगम् — भौतिक आध्यात्मिक आदि दुखों के और सुखों के संयोग से जिसका वियोग होता है अर्थात् जिसमें बाहर के सुःख-दुःखों की प्रतीति न हो ऐसी विशेष प्रकार की अंतःकरण की अवस्था को योग जानना चाहिए। काय चित्त आदि में उत्पन्न होने वाले आलस्य पीड़ा आदि दोषों से रहित, विचलित न हुए स्थिर अंतःकरण से धैर्य धारण करके तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा से युक्त मन से समाधि का अनुष्ठान करना चाहिए। अर्थात् निश्चयता से योग का साधन करना चाहिए।

सङ्कल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥६/२४॥

अनुवाद —संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सभी भौतिक इच्छाओं को पूर्णरूप से त्यागकर, मन के द्वारा निश्चय ही सभी ओर से, इन्द्रियों के समूह को वश में करके।

व्याख्या —संकल्पप्रभव— संकल्प से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण कर्मों का अर्थात् सम्पूर्ण विषयों की अभिलाषाओं का, निःशेष रूप से त्यागकर यानि उन कामनाओं का लेशमात्र भी शेष न रह जाना इस प्रकार से सर्वत्र कामना का त्याग करते हुए तथा काम और संकल्प से दूर रहने वाले विवेकी मन से नेत्र वाणी आदि इन्द्रियों की विषयों में होने वाली प्रवृत्ति को सब ओर से रोककर अर्थात् मन द्वारा इन्द्रियों का निग्रह करके।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥६/२५॥

अनुवाद — धैर्य युक्त बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे (एक-एक करके क्रम से) विश्रान्ति को प्राप्त हो तथा मन को आत्मा (समाधि) में स्थित करके अन्य कुछ भी चिन्तन (मनन) न करें।

व्याख्या — शनैः शनैः यानि एक साथ नहीं धीरे-धीरे क्रमशः पहले बाह्य विषयों से, फिर इन्द्रियों से तत्पश्चात् अन्तस्थ विपरीत विषयों से धीरे धीरे अन्तःकरण मन को व्यापार रहित करें यानि संयम करें। मन को ज्ञानरूपी शान्त आत्मा यानि सम्यक् चैतन्यरूप आत्मा में लय करें, स्थित करें, इस प्रकार मन को आत्मसंस्थ करके साधक स्वयं ही बाह्य और आन्तरिक किसी भी वस्तु का चिन्तन न करें।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥६/२६॥

अनुवाद — चंचल और स्थिर न रहने वाला मन जिस जिस शब्दादि विषयके लिए संसार में विचरण करता है उस उस विषय से इस मन को निरुद्ध करके दृढ़ता से अपने वश में करें।

व्याख्या — विषय वासनाओं के प्रभाव से चंचल तथा राग-द्वेष आदि दोषों के कारण अस्थिर मन स्वविषय आत्मा का त्याग कर रागा दी विषय वासनाओं से जाने अनजाने में जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता है उन उन विषयों से इस मन को रोककर अर्थात् उन उन विषयों में दुःखत्व बन्धकत्व और तत्त्वनिरूपण द्वारा असत्त्व का उद्घाटन करके वैराग्य की भावना से इस मन को बारम्बार खींचकर आत्मा में ही इसका निरोध करें अर्थात् स्थित करें। इस प्रकार बार बार प्रयत्नपूर्वक योगीद्वारा मन को आत्मस्थित कर लिया जाता है।

14.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् हमें यह ज्ञात होता है कि ध्यान योग का हमारे जीवन पर पूर्ण प्रभाव होता है। जिससे अन्तःकरण की शान्ति एकाग्रचित्त बुद्धि, बाहरी द्वंद्वों से रहित सुख पूर्वक जीवन का निर्वाह आदि होता है। इसलिए ध्यान योग करने के लिए हमें सर्वप्रथम आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओं को वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योगका अभ्यास करना चाहिए। शुद्ध (पवित्र) भूमि में शरीर, सिर और गर्दन को समान रूप से स्थिर करते हुए अपनी नासिका के आगे वाले भाग को एकटक देखकर ध्यान लगाना चाहिए। अन्तःकरण मन अविचलित और शान्त हो, भय से रहित, ब्रह्मचर्य में स्थित होकर आत्मस्थित होना चाहिए। कृष्ण भी कहते हैं — संयमित किये हुए मन वाला मनुष्य हमेशा स्वयं को मुझ परममोक्ष स्वरूप परमेश्वर में लगाते हुए, मुझमें स्थित होकर परमशान्ति को प्राप्त करता है। इसी प्रकार जो मनुष्य नियमित आहार-विहार आमोद-प्रमोद करने वाला, धार्मिक कार्यों को करने वाला, समयानुसार शयन और जागरण करने वाला, इस प्रकार से किया जाने वाला योगाभ्यास समग्र दुःखों का नाश करने वाला होता है। जो आत्मस्थित पुरुष होता है वह जिस समय स्वयं में ही भलीप्रकार से स्थित हो जाता है, उस समय सभी प्रकार के सांसारिक भोग विषयों से रहित होकर योग समाधि में स्थित हो जाता है। जैसे वायुरहित स्थान पर दीपक हिलता-डुलता नहीं, वैसे ही परमात्मा के ध्यान में लगा हुआ पुरुष का वश में किया हुआ मन विचलित नहीं होता। विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धि से ग्रहण करने योग्य, इन्द्रियों से अतीत उस परमात्मा में स्थिर हुआ पुरुष परम आनन्द का अनुभव करता है। योग का स्वरूप बताते हुए कृष्ण कहते हैं कि —

जिस अवस्था में योगी आत्म स्वरूप से विचलित नहीं होता तथा जिस आत्मतत्त्व को प्राप्त करके उससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कोई लाभ भी नहीं मानता। जिस अवस्था में योगी भारी दुखों से भी विचलित नहीं होता ऐसे दुःखरूपी भौतिक विषयों से रहित उस समाधि अवस्था को योग जानना चाहिए। उस योग का विचलित हुए बिना, धीरज और उत्साह युक्त मन से दृढ़ता के साथ अभ्यास करना चाहिए। संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सभी भौतिक इच्छाओं को त्यागकर, इन्द्रियों के साथ मन को सभी ओर से वश में करके फिर मन को आत्मा समाधि में स्थित करके अन्य किसी का भी चिन्तन न करें। इसी प्रकार ध्यान योग के द्वारा हम भी अपने जीवन को सरल शान्त और सुखद बना सकते हैं।

14.4 शब्दावली

- (६/१०)– यतचित्तात्मा – इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, निराशी – आशारहित, अपरिग्रह – संग्रह रहित
- (६/११)– शुचौ – शुद्ध, चैलाजिन – मृगछाला
- (६/१२)– यतचित्तेन्द्रियक्रिय – इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए
- (६/१३)– सम्प्रेक्ष्य – दृष्टि जमाकर
- (६/१४)– विगतभी – भय रहित, मत्पर – मेरे परायण होकर
- (६/१५)– निर्वाणपरमाम् – परमानन्द की पराकाष्ठ रूप
- (६/१६)– अश्नतः – खाने वाले का अनश्नतः – न खाने वाले का
- (६/१७)– युक्ताहार – विहार – यथायोग्य आहार-विहार करने वाला
- (६/१८)– विनियतम् – वश में किया हुआ निस्पृह – स्पृहा रहित
- (६/१९)– निवातस्थः – वायु रहित स्थान में स्थित इङ्गते – चलायमान
- (६/२०)– योगसेवया – योगाभ्यास से उपरमते – उपराम हो जाना
- (६/२१)– वेत्ति – अनुभव करना अतीन्द्रिय – जो इन्द्रियों के वश के बाहर है
- (६/२२)– गुरुणा – बड़ा भारी विचाल्यते – चलायमान
- (६/२३)– अनिर्विण्णचेतसा – धैर्य और उत्साहयुक्त मन से योगसंज्ञितम् – जिसका नाम योग है
- (६/२४)– विनियम्य – भलीभाँति रोककर अशेषतः – निशेष रूपसे
- (६/२५)– शनैः, शनैः – क्रमपूर्वक, क्रम – क्रम से (धीरे-धीरे)
- (६/२६)– निश्चरति – विचरता है नियम्य – रोककर, हटाकर

14.5 बोध / अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. “ध्यान” योग से क्या – क्या लाभ है?
2. योगी के गुणों एवं स्वरूप का निरूपण कीजिये ?
3. योगी के स्वरूप का निरूपण कीजिये ?
4. कर्म में प्रवृत्त होने पर भी साधक की अकर्मिता का निरूपण कीजिये ?
5. ज्ञानी के सभी कर्म किस प्रकार लीन हो जाते हैं उसका निरूपण कीजिये ?

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता साधारण भाषाटीकासहित – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप – भक्तिवेदान्तबुक ट्रस्ट
- श्रीमद्भगवद्गीता गीतातात्पर्यबोधिनी – श्रीशंकरानन्दसरस्वतीविरचित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- श्रीमद्भगवद्गीता – साधकसंजीवनी हिन्दीटीका – गीताप्रेस गोरखपुर
- पातञ्जलयोगदर्शनम् – व्यासभाष्यसहित 'योगदीपिका' – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 15 आहार नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 आहार नियंत्रण (17/8-10) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
- 15.3 सारांश
- 15.4 शब्दावली
- 15.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- आहार नियन्त्रण जीवन में क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- मनुष्य को किस प्रकार से आहार ग्रहण करना चाहिए यह जान सकेंगे।
- मनुष्य का अत्यधिक भोजन करना क्यों हानिकारक है यह जान पाएंगे।
- मनुष्य का कम भोजन करना क्यों हानिकर है यह जान पाएंगे।
- किस प्रकार अनियमित आहार स्थिर ध्यान में बाधक है यह जान सकेंगे।
- स्वस्थ शरीर, शुद्ध अन्तःकरण और पवित्र आत्मा में ध्यान लगा रहे इसके लिए आहार नियंत्रित करना आवश्यक है यह जान पाएंगे।
- सात्विक, राजसी एवं तामसी भोजन के विषय में ज्ञान होगा।

15.1 प्रस्तावना

गीता में कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए संवाद में कृष्ण द्वारा अर्जुन के अनेक संशयों का निराकरण किया जाता है तथा अनेक जीवन के रहस्यों और उद्देश्यों का उपदेश दिया जाता है जिसमें 'आहार नियन्त्रण' एक मुख्य विषय है। जिसमें कृष्ण अर्जुन को आहार नियन्त्रण से प्राप्त होने वाले अनेक परिणामों के विषय में बताते हैं। किस प्रकार अपने आहार पर नियन्त्रण होना चाहिए और किस प्रकार अपने आहार नियन्त्रित करके शारीरिक कष्टों तथा आलस्यादि विकारों से मुक्त होकर स्वयं को प्रमाद रहित योगाभ्यास में रत रखें। आहार का नियन्त्रण न होने से शरीर में आलस्य उन्माद आदि उत्पन्न हो जायेंगे, पाचन क्रिया सुव्यवस्थित नहीं हो पायेगी, जिससे भोजन अपाच्य रह जायेगा जिसके कारण शरीर अनेक रोग-व्याधियों का आलय हो जायेगा। इसी प्रकार कम भोजन भी शरीर के लिए सही नहीं है कम भोजन करने से शरीर शक्ति से रहित हो जायेगा जिससे मनुष्य खुद की रक्षा करने में असमर्थ हो जायेगा और योगाभ्यास करने में भी कठिनाइयाँ आयेंगी इसलिए जितने भोजन से उदर (पेट) की पूर्ति हो उतना भोजन मनुष्य को अवश्य करना चाहिए जिससे शरीर में भी रोग-प्रतिरोधक क्षमता बनी रहे। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने भोजन पर नियन्त्रण रखे,

जैसा मनुष्य का आहार होगा वैसे ही उसका व्यवहार इसलिए यह भी जरूरी है कि वह आहार हमारे जीवन में सन्तुलित हो। आहार तीन प्रकार के कहे गये हैं जो सात्विक आहार, राजसी आहार तथा तामसी आहार रूप में बताया गया। योगाभ्यासी कौनसे आहार को ग्रहण करें, कितने परिमाण तुल्य वह भोजन का ग्रहण करें। इस प्रकार आहार नियन्त्रण के विषय में अधोलिखित प्रस्तुत 'आहार नियन्त्रण' नामक इकाई में विस्तृत वर्णन किया गया है।

15.2 आहार नियंत्रण (17/8-10) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥१७/८॥

अनुवाद —आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, स्नेह और स्थिर रहनेवाले तथा मनको प्रिय — (लगने वाले) ऐसे भोज्य पदार्थ सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

व्याख्या —हमारे जीवन में आयु, बुद्धि, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति, इन सबकी वृद्धि करने वाले तथा रस से युक्त, चिकने, इस शरीरमें बहुत समय तक साररूपसे रहने वाले और मन को स्वभाव से ही प्रिय लगने वाले, ऐसे भोजन करने के पदार्थ सात्विक पुरुष के लिए सदैव ही प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥१७/९॥

अनुवाद —कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अत्यधिक गरम, तीखे, रूखे, ज्वलनशील और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोज्य पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

व्याख्या —जो भोज्य पदार्थ कड़वे, खट्टे, नमकीन, अत्यधिक गरम, तीखे, रूखे और ज्वलनशील एवं दुःख चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं, ऐसे भोज्य पदार्थ राजस पुरुषको अत्यन्त प्रिय होते हैं। यहाँ अति शब्द का प्रयोग सभी के साथ जोड़ना चाहिये, जैसे अति कड़वे, अत्यन्त खट्टे, अति तीक्ष्ण, अत्यधिक दाहयुक्त इत्यादि।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१७/१०॥

अनुवाद —जो भोजन अधपका, रसविहीन, दुर्गन्ध से युक्त, बासी और जूठा है तथा जो (भोजन) अशुद्ध भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।

व्याख्या —यातयाम — अधपका, रस से विहीन, दुर्गन्ध से युक्त और बासी अर्थात् जिस भोजन को पके हुए एक रात बीत चुकी हो, तथा जूठा — खानेके पश्चात् बचा हुआ और अमेध्य— जो यज्ञ में आहूत करने योग्य न हो, ऐसा भोजन तामसी मनुष्योंको प्रिय होता है। यहाँ प्रस्तुत श्लोक में यातयाम का अर्थ अधपका किया गया है, निर्वीर्य — शक्तिहीन भोजनको गतरस शब्दसे कहा गया है।

15.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें यह ज्ञात होता है कि हमें अपने जीवन में संतुलित आहार का ग्रहण करना चाहिए जिसे हमारी शारीरिक मानसिक स्थिति सही रहे। हम जिस भोजन का उपभोग करें वह हमारे शरीर के लिए शक्तिप्रद हो शरीर को जितने भोजन की आवश्यकता हो उतना ही ग्रहण करें। अधिक भोजन करने से मन अशांत होता है, निद्रा में बाधा आती है। ध्यान, समाधि आदि में शरीर स्थिर नहीं रह पता इसलिए आवश्यक है कि हम अपने भोजन पर नियन्त्रण रखें। जो तीन प्रकार के आहार बताये गये हैं – सात्विक आहार, राजसी आहार और तामसी आहार, हमें यह प्रयत्न करना चाहिए कि हम अपने जीवन में यथा – संभव हो सके तो सात्विक भोजन को ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कहा भी जाता है जैसा व्यक्ति का आहार होता है वैसा उसका आचार – व्यवहार होता है, सात्विक आहार ग्रहण करने से जीवन में सात्विकता बनी रहती है। सात्विक भोजन से सात्विक विचार आते हैं जिससे हमारे आचरण में भी सात्विकता आती है जो प्रत्येक मनुष्य तथा समाज के लिए अति आवश्यक है।

15.4 शब्दावली

- (१७/८)– विवर्धना – बढ़ाने वाला
स्निग्धा – चिकना
- (१७/९)– कटु – कड़वा
अम्ल – खट्टा
रूक्ष – रूखा
इष्ट – प्रिय
- (१७/१०)– यातयामम् – अधपका अथवा अधकच्चा
पूति – दुर्गन्ध युक्त
पर्युषितम् – बासी
उच्छिष्टम् – जूठा
अमेध्यम् – अपवित्र

15.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. शरीर आदि तीन तापों का प्रतिपादन कीजिये
2. आहार नियंत्रण से आप क्या समझते हैं?
3. तीन प्रकार के गुण कौन कौन से होते हैं उनका जीवन में क्या लाभ है?

15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता साधारण भाषाटीकासहित – गीताप्रेस गोरखपुर

- श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप – भक्तिवेदान्तबुक ट्रस्ट
- श्रीमद्भगवद्गीता गीतातात्पर्यबोधिनी – श्रीशंकरानन्दसरस्वतीविरचित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली
- श्रीमद्भगवद्गीता – साधकसंजीवनी हिन्दीटीका – गीताप्रेस गोरखपुर
- पातञ्जलयोगदर्शनम् – व्यासभाष्यसहित 'योगदीपिका' – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 16 काम नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

- 16.0 उद्देश्य
- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 काम नियंत्रण (3/36–40) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
- 16.3 सारांश
- 16.4 शब्दावली
- 16.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- काम के स्वरूप के विषय में जान सकेंगे।
- काम पर नियन्त्रण क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- काम को नियन्त्रित करके कैसे योग की सिद्धि होती है यह जान पाएंगे।
- काम से उत्पन्न क्रोध के विषय में जान सकेंगे।
- काम से दुःख की प्राप्ति क्यों होती है इस विषय में जान पाएंगे।
- किस प्रकार काम के नियन्त्रण से मनुष्य सांसारिक विषयों से उत्पन्न होने वाले दुखों से दूर हो जाता है यह ज्ञान होगा।
- काम नियंत्रण से क्या लाभ है यह जान पाएंगे।

16.1 प्रस्तावना

गीता में अर्जुन की मोहग्रस्त हुई बुद्धि को कृष्ण के ज्ञानरूपी प्रकाश (उपदेशों) से प्रकाशित किया जाता है तथा अनेक संशयों का निराकरण किया जाता है। जिसमें 'काम नियन्त्रण' एक मुख्य विषय है। किस प्रकार के भोग से काम की उत्पत्ति होती है तथा किस प्रकार से कामरूपी शत्रु से बुद्धि का आच्छादन कर लिया जाता है इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि किस प्रकार काम का आश्रय स्थान हैं। काम अर्थात् इच्छा, आकांक्षा वासना आदि काम के अनेक पर्याय हैं, काम से क्रोध उत्पन्न होता है अर्थात् जब मनुष्य की इच्छा अर्थात् कामना की पूर्ति नहीं होती तब क्रोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे मनुष्य का ज्ञान काम से उत्पन्न उस क्रोधाग्नि के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है जिससे मनुष्य शरीर मन और बुद्धि से पतित हो जाता है। इसलिए मनुष्य द्वारा काम पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। काम पर किस प्रकार से नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार काम नियन्त्रण के विषय में अधोलिखित प्रस्तुत 'काम नियन्त्रण' नामक इकाई में विस्तृत वर्णन किया गया है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३/३६॥

अनुवाद —अर्जुन बोले — हे कृष्ण ! फिर किससे प्रेरित होकर न चाहता हुआ भी बलपूर्वक लगाये हुए की भाँति यह मनुष्य (स्वयं) पाप का आचरण करता है ?

व्याख्या —अर्जुन कृष्ण से पूछता है — हे कृष्ण ! बलवान राजा के द्वारा नियुक्त हुए सेवक की तरह कार्य और अकार्य को जानने वाला भी यह पुरुष स्वयं पाप से साध्य फल की इच्छा न करता हुआ भी जो पाप का आचरण करता है वह किस से प्रेरित होकर करता है?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३/३७॥

अनुवाद —श्रीभगवान् बोले— यह काम (ही) क्रोध है, (जो) रजोगुण से उत्पन्न हुआ सभी प्रकार का भोग करने वाला सर्वभक्षी और बड़ा पापी है, इस विषय में इसको (क्रोधको) तू शत्रु समझ।

व्याख्या —सबकी प्रवृत्ति का कारण काम ही है, यह काम जो सभी मनुष्यों का शत्रु है जिसके कारण सभी जीवों को दुःख की प्राप्ति होती है। यह काम किसी कारणसे बाधित होने पर क्रोध के रूप में बदल जाता है, इसलिए इसे क्रोध भी कहा गया है यह काम स्वयं रजोगुण से उत्पन्न हुआ रज का गुण राग है अर्थात् विषय सम्बन्धित सामान्य इच्छा है, यही इच्छा विषय के समीप होने पर काम को उत्पन्न करती है इसलिए काम रजोगुण से उत्पन्न हुआ है। रजोगुणके कार्य — सेवा आदिमें लगे हुए दुःखित मनुष्यों का ही यह प्रलाप सुना जाता है कि तृष्णा ही हमसे अमुक काम करवाती है' इत्यादि। काम कभी भी विषयों के उपभोग से शान्त नहीं होता इसीलिए इसे (महाशन) बहुत खाने वाला कहा है। यह काम आवेश में आकर परस्त्री का गमन करने की इच्छा करता है, क्रुद्ध हुआ पुरुष गुरु को भी कोसता है, गौ को भी पीड़ा देता है इसीलिए यह काम महापापी है। इस कारण इस काम(क्रोध) को मोक्ष के मार्ग का वैरी जान।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३/३८॥

अनुवाद —जिस प्रकार धूँ से अग्नि और धूल से शीशा ढका रहता है, जैसे गर्भाशय द्वारा भ्रूण (गर्भ) आवृत रहता है उसी प्रकार से ज्ञान उस काम के द्वारा ढका रहता है।

व्याख्या —जिस प्रकार अन्धकाररूप धुँ से प्रकाशरूपी अग्नि को ढक लिया जाता है, जैसे जीव के प्रतिबिम्ब को दिखाने वाला दर्पण (मल)धूल के कणों से ढक जाता है, जैसे गर्भाशय द्वारा भ्रूण (गर्भ) आवृत रहता है, वैसे ही अप्रकाशरूप, मलिन, अचेतन इस काम से मनुष्य का प्रकाशरूपी दिव्य, चेतन ज्ञान को ढक लिया जाता है।

अनुवाद —हे अर्जुन ! ज्ञानियों के नित्य शत्रु द्वारा काम रूप में कभी भी पूर्ण न होनेवाली इस अग्नि से, इस ज्ञान को ढका हुआ है।

व्याख्या —ज्ञानी पुरुष के इस कामरूपी नित्यशत्रु से ज्ञानीपुरुष का ज्ञान ढका हुआ है। ज्ञानी द्वारा पहलेसे ही यह जान लिया जाता है कि काम के द्वारा वह विषय-भोगों में नियुक्त कर लिया गया है इसके द्वारा वह नित्य दुखी भी रहता है। इसलिये यह ज्ञानी पुरुष का ही नित्य शत्रु है न कि मूर्खका, क्योंकि वह मूर्ख व्यक्ति तृष्णा के समय काम को मित्रके समान समझता है परन्तु जब उसके फल की परिणति दुःखरूप में प्राप्त होती है, तब उसे यह ज्ञान होता है कि वह कामरूपी तृष्णाके द्वारा दुखी किया गया है वह अविवेकी मनुष्य इसके परिणाम को पहले नहीं जान पाता, इसलिये यह काम अज्ञानी पुरुष का वैरी न होकरके ज्ञानी पुरुषों का नित्य बैरी है। कैसे कामके द्वारा ज्ञान आच्छादित है इसपर कहते हैं— काम — इच्छा रूप से जो चाहा जाता है, निरन्तर विषयों के उपभोग करने से भी जिसे तृप्ति न मिले तथा हृदय के भीतर जो अग्नि के सामान काम करता है वह अनल है, हमेशा बाह्य विषयों का आकर्षण, निष्काम का प्रतिकूल होने के कारण, ऐसे कामरूप शत्रु द्वारा ब्रह्म का ग्रहण करने वाली बुद्धि (ज्ञान) का आच्छादन किया गया है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥३/४०॥

अनुवाद —इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि — ये सभी इसके (कामके) निवासस्थान कहे गये हैं। यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ इन सभी के द्वारा ही ज्ञान को आवृत कर देहधारी जीवात्मा को मोहग्रस्त कर देता है।

व्याख्या —चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि ये सभी इस कामके आश्रयभूत निवासस्थान स्थान माने जाते हैं। यह काम इन आश्रयभूत चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा (अवान्तर दृष्टिको) ज्ञानको ढक करके इस देहात्म बुद्धि वाले ज्ञानी तथा अज्ञानी पुरुष को नाना प्रकारसे मोह लेता है।

16.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें सार रूप में यह ज्ञात होता है कि काम (कामनाओं) से युक्त मनुष्य जीवन में हमेशा दुखी रहता है, हमारे शरीर में तीन गुणों का प्रवाह है जिनमें सत्व, रज तथा तम को कहा गया है इन तीनों गुणों के आधिक्य तथा न्यूनता के अनुसार मनुष्य का मन भी उसी प्रकार प्रवृत्त होता है, जैसे सतोगुण की मात्रा अधिक हो और रजोगुण तथा तमोगुण की मात्रा न्यून हो तो इस स्थिति में व्यक्ति का हाव-भाव, आचार-विचार तथा मन की स्थिति सात्विक होती है, जिससे व्यक्ति का मन अच्छे धार्मिक कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार यदि रजोगुण अधिक हो तो व्यक्ति के हाव-भाव, आचार- विचार तथा मन की स्थिति भी राजसी होती है ठीक इसी प्रकार तमो गुण को भी समझना चाहिए। जो यहाँ काम नियन्त्रण का विषय है उसकी उत्पत्ति रजोगुण से ही बताई गयी है और काम को ही सब मनुष्यों की प्रवृत्ति का कारण माना। यहाँ काम से ही क्रोध को उत्पन्न होने वाला बताया है जो कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। इसलिए जीवन में मनुष्य को चाहिए कि वह काम अर्थात् अपनी इच्छाओं कामनाओं का दमन करें। काम पर नियन्त्रण रखें। जिस व्यक्ति का काम (क्रोध) पर नियन्त्रण नहीं रहता वह जीवन में दुखों को प्राप्त करता है और पतित हो जाता है। जब मनुष्य की इच्छाओं की कामनाओं की पूर्ति नहीं

होती तो उससे क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध रूपी अग्नि के धुएँ से प्रकाश रूपी बुद्धि आच्छादित हो जाती है जिसके कारण व्यक्ति क्या सही है और क्या गलत है इस विषय में भेद नहीं कर पाता जिसके परिणाम स्वरूप वह अनिष्ट कर बैठता है जिससे उसे अधोगति की प्राप्ति होती है अन्त में वह घोर दुःख को प्राप्त हो जाता है। यहाँ काम को ज्ञानी पुरुष का नित्य शत्रु कहा गया है और अज्ञानी पुरुष काम को मित्र समझने लगता है। मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति तृष्णा के समय काम को मित्रके समान समझता है परन्तु जब उसके फल की परिणति दुःखरूप में प्राप्त होती है, तब उसे यह ज्ञान होता है कि 'वह कामरूपी तृष्णाके द्वारा दुखी किया गया है वह अविवेकी मनुष्य इसके परिणाम को पहले नहीं जान पाता, इसलिये यह काम अज्ञानी पुरुष का शत्रु न होकर ज्ञानी पुरुषों का नित्य शत्रु कहा गया है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि ये सभी कामके निवास स्थान कहे गये हैं। यह काम इन आश्रयभूत चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञानको ढक करके ज्ञानी तथा अज्ञानी पुरुष को नाना प्रकारसे मोह लेता है। इसीलिए कहा गया है कि चक्षुरादि इन्द्रियों मन तथा बुद्धि को बाहरी विषयों (काम-इच्छाओं) से रहित करके काम का नियन्त्रण करके उस परमात्मा में लगाना चाहिए।

16.4 शब्दावली

- (३/३६)– वाष्ण्य – कृष्ण के लिए
अनिच्छन् – न चाहने वाला
- (३/३७)– महाशनः – अत्यधिक खाने वाला
- (३/३८)– आत्रियते – आच्छादित, ढका हुआ
उल्वेन – जेर से (गर्भाशय से)
- (३/३९)– कौन्तेय – अर्थात् कुन्तीपुत्र अर्जुन
दुष्पूरेण – न पूर्ण होने वाले

16.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. काम को किस प्रकार से नियंत्रित किया जा सकता है? और उसके क्या लाभ हैं?
2. काम और क्रोध किस प्रकार ये सभी अनर्थों के हेतु हैं ?
3. काम रूपी शत्रु से किस प्रकार ज्ञान आच्छादित होता है ? टिप्पणी कीजिये।

16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता साधारण भाषाटीकासहित – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप – भक्तिवेदान्तबुक ट्रस्ट
- श्रीमद्भगवद्गीता गीतातात्पर्यबोधिनी – श्रीशंकरानन्दसरस्वतीविरचित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- श्रीमद्भगवद्गीता – साधकसंजीवनी हिन्दीटीका – गीताप्रेस गोरखपुर
- पातञ्जलयोगदर्शनम् – व्यासभाष्यसहित 'योगदीपिका' – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

इकाई 17 अहंकार त्याग

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 अहंकार त्याग (2/7, 47), (9/27, 8/7, 11/55) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या

17.3 सारांश

17.4 शब्दावली

17.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- अहंकार के विषय में जान सकेंगे।
- अहंकार का त्याग जीवन में क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- अहंकार के त्याग से मनुष्य दूसरों के प्रति किस प्रकार व्यवहार करता है यह जान पाएंगे।
- अहंकार को त्याग कर योगी किस प्रकार निस्वार्थ भाव से कर्म करता है यह जान सकेंगे।
- अहंकार से किये गये कर्म किस प्रकार निष्फल होते हैं यह जान पाएंगे।
- अहंकार त्याग से जीवन में क्या लाभ होते हैं यह भी जान पाएंगे।

17.1 प्रस्तावना

गीता में अनेक विषयों का उपदेश दिया गया है जिसमें कृष्ण द्वारा अर्जुन को 'अहंकार का त्याग' किस प्रकार एक व्यक्ति के द्वारा किया जाना चाहिए इस विषय में अनेक प्रकार से बताते हैं। अहंकार के परित्याग कर देने से उचित क्या है और अनुचित क्या है इसका विवेक बुद्धि में जाग्रत हो जाता है। सभी विषयों और कर्मों को अहंकार रहित होकर परमात्मा में किस प्रकार साधक सर्वसमर्पण करें। मनुष्य की प्रवृत्ति है कि वह कोई भी कार्य करे तो उसमें स्वयं ही 'अहं' भाव आजाता है, जिस भी कार्य को करता है 'मैंने किया है' इस प्रकार से 'मैं' की भावना से ओतप्रोत रहता है जिसके विपरीत परिणाम आने से दुखी हो जाता है। इसलिए मनुष्य जो भी कर्म करें, दान करें, तप करें, यजन करें उन सभी में यह सोचकर कि यह मेरे द्वारा नहीं अपितु भगवद् इच्छा से किया जा रहा है इस प्रकार से मैं 'अहं' अहंकार का त्याग करें, अहं का त्याग करने से उसके विपरीत परिणाम मिलने पर भी मनुष्य दुखी नहीं होता। इस प्रकार 'अहंकार त्याग' के विषय में अधोलिखित प्रस्तुत 'अहंकार त्याग' नामक इकाई में विस्तृत वर्णन किया गया है।

17.2 अहंकार त्याग (2/7, 47), (9/27, 8/7, 11/55), श्लोक, अनुवाद और व्याख्या

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यानिश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥२/७॥

अनुवाद —कायरतारूपी दोष से ग्रस्त स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में मोहग्रस्त हृदय वाला मैं आपसे पूछता हूँ, जो साधन कल्याणकारी हो वह निश्चय पूर्वक मेरे लिए कहिए, मैं आपका शिष्य हूँ आपके शरण आये हुए मुझे उपदेश दीजिये ।

व्याख्या —अर्जुन कहता है— अनात्मस्वरूप वाला अविद्या से उत्पन्न देह इन्द्रिय आदि ही मैं हूँ ऐसा मानने वाला अज्ञानी कृपण मैं, अविद्या से इस संसार में गिरे हुए मुझ पुरुष को, जिसका ज्ञानस्वरूप प्रकाशात्मक धर्म में चित्त प्रविष्ट नहीं हुआ है, जो अपने कर्तव्य भूल गया है, जिसका सारा धैर्य नष्ट हो चुका है, ऐसी अवस्था वाला मैं आप परमेश्वर से पूछता हूँ कि 'जिसे श्रुति—स्मृति तथा महर्षियों द्वारा श्रेय का साधन एवं शोक का नाशक मार्ग कहा गया है वह मुझे कहिये, मैं आपका शिष्य हूँ आपके शरण में आया हुआ हूँ मुझे उपदेश दीजिये अर्थात् समझाइये ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥२/४७॥

अनुवाद —कर्म करने में ही निश्चित रूप से तुम्हारा अधिकार है, उसके (कर्म) फलों में कभी नहीं। (इसलिए तुम)कर्म के फलों का कारण मत हो, और कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति न हो ।

व्याख्या —श्रुति— स्मृति द्वारा बताये गये काम्यवर्जित नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों में ही तुम्हारा अधिकार है अर्थात् तुम्हारा अधिकार कर्मफलों में (यज्ञ—दान तप आदि कर्मों का फल बताया जाता है, नित्यकर्मों से पाप नष्ट हो जाते हैं ऐसे कर्मफलों में) तुम्हारा अधिकार नहीं है, अर्थात् कर्म के फलों में कभी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए जिस प्रकार बीज से अंकुर उत्पन्न होगा वैसे ही कर्म के फलों की इच्छा होने पर पुनर्जन्म आदि दुःखभूमियाँ उत्पन्न होंगी इसलिए तू कर्मफल प्राप्ति का कारण मत बन । (यदि कर्म—फल की इच्छा न हो तो दुखरूप कर्म करने की क्या आवश्यकता है) कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति और प्रीति न हो ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥६/२७॥

अनुवाद —हे अर्जुन ! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और जो भी तप करते हो, वह सब मुझको अर्पण करो ।

व्याख्या —हे अर्जुन ! लोक में जो विहित है— जिन लौकिक कर्मों को तुम करते हो, जिस अनायास ही प्राप्त हुए अन्न को तुम खाते हो, जो चरु, पुरोडाश आदि होम योग्य वस्तुओं का श्रौत—स्मार्त विधियों से यज्ञ में अग्नि आदि देवताओं के लिए हवन करते हो, जो कुछ स्वर्ण, धन, धान्य, कन्या, गौ, घृत आदि उत्तमवस्तु ब्राह्मणआदि सत्पात्रों को देते हो और जो कुछ संध्या—वन्दन, वेदाध्ययन, व्रत—उपवास आदि तप करते हो — लौकिक और वैदिक जो भी कर्म करते हो उन सबको मेरे को अर्पित करो ।

अनुवाद —इसलिये हे अर्जुन ! तुम सभी कालों में मुझको स्मरण करो और युद्ध भी करो। मुझको समर्पित किये हुए मन बुद्धि से युक्त होकर (तुम) मुझे निःसंदेह (अर्थात् निश्चय रूप से) ही प्राप्त करोगे।

व्याख्या —हे अर्जुन ! तुम सब कालों में आहार, विहार, शयन, आसन आदि सब अवस्था में मन और बुद्धि से सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप मुझे स्मरण करो और (तुम क्षत्रिय हो) अतः शास्त्रज्ञानानुसार अपने जीवन का साधनरूप युद्ध भी करो। इस प्रकार मुझमें जिसकी मन-बुद्धि अर्पित की गयी है ऐसा मुझमें समर्पित किये हुए मन-बुद्धि वाला तू मेरे जिस स्वरूपका तू चिन्तन करेगा उसी को प्राप्त हो जायेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मदभक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥११/५५॥

अनुवाद —हे अर्जुन ! जो मेरे लिए ही कर्म करने में लगा हुआ है, जो मुझे ही परम लक्ष्य मानता है, मेरी भक्ति करता है और विषयभोगों की आसक्ति से रहित जो प्राणिमात्र में वैरभाव नहीं रखता (शत्रुभाव) से रहित है, वह पुरुष मुझको ही प्राप्त करता है।

व्याख्या —जो मुझ परमेश्वर के लिए ही लौकिक और वैदिक कर्म को करता है, अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी नहीं करता है जिस फल की इच्छा से मनुष्य कर्म करता है उसी फल को वह प्राप्त करता है अन्य दूसरे फल को नहीं, वैसे ही यह मेरे लिए कर्म करता है अतः मुझको ही प्राप्त होता है। जिसकी इन्द्रियों की वृत्ति मेरे स्वरूप को ग्रहण करने में प्रयत्नशील है, तथा विश्वस्वरूप मुझको जो सर्वत्र भजता है ऐसा वह मेरा भक्त है। जो स्त्री, पुत्र, मित्र, आदि बन्धु-बान्धवों की संगति तथा प्रीति-स्नेह से रहित है तथा सभी प्राणियों में वैर-भाव से रहित है जो अनिष्टकारी वृत्ति वाले प्राणी हैं उनसे भी जो शत्रुभाव नहीं रखता। ऐसा जो पुरुष है, हे पाण्डव ! वह मेरा भक्त है मैं उसकी अंतिम परमगति हूँ उसकी अन्य कोई गति नहीं होती, वह मुझे ही प्राप्त करता है।

17.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् हमें यह ज्ञात होता है कि हमें अपने जीवन में अहंकार का त्याग करना चाहिए। स्वयं भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि जो भी तू कर्म करता है उस कर्म को अहं भाव से अर्थात् 'मैं कर रहा हूँ' इस भाव से रहित होकर कर्म कर और उन सभी को मुझे अर्पित कर। क्योंकि जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार अनुभव होता है कि वह जो भी कर रहा है वह कार्य उसी के द्वारा किया जा रहा है 'मैं करने वाला हूँ' 'मैं देने वाला हूँ' आदि के भाव आजाने से अचेतन बुद्धि में कहीं न कहीं वह अहं का भाव जाग्रत होता रहता है जो एक समय आते — आते प्रत्यक्ष होने लगता है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए की वह जो भी यथा सामर्थ्य कर्म करें उस कर्म को यह सोचकर कि ये सब परमात्मा के द्वारा ही किया जा रहा है और परमात्मा को लक्ष्य करके ही उस कर्म का साधन करें। इस प्रकार कर्म करने से अहंकार भाव की समाप्ति हो जाएगी। इसलिए अर्जुन को कृष्ण द्वारा कहा जाता है कि जो मुझ परमेश्वर के लिए ही लौकिक और वैदिक कर्म को करता है, अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी नहीं करता है जिस फल की इच्छा से मनुष्य कर्म करता है उसी फल

को वह प्राप्त करता है अन्य दूसरे फल को नहीं, वैसे ही यह मेरे लिए कर्म करता है अतः मुझको ही प्राप्त होता है। लोक में जो विहित है— जिन लौकिक कर्मों को तुम करते हो, जिस अनायास ही प्राप्त हुए अन्न को तुम खाते हो, जो चरु, पुरोडाश आदि होम योग्य वस्तुओं का श्रौत-स्मार्त विधियों से यज्ञ में अग्नि आदि देवताओं के लिए हवन करते हो, जो कुछ स्वर्ण, धन, धान्य, कन्या, गौ, घृत आदि उत्तमवस्तु ब्राह्मणआदि सत्पात्रों को देते हो और जो कुछ संध्या-वन्दन, वेदाध्ययन, व्रत-उपवास आदि तप करते हो — लौकिक और वैदिक जो भी कर्म करते हो उन सबको मेरे को अर्पित करो।

17.4 शब्दावली

- (२/७)– कार्पण्य – कायरता रूप
धर्मसम्मूढचेता: – धर्म के विषय में मोहग्रसित हुआ
श्रेयसू – कल्याण कारक
शाधि – शिक्षा
ब्रूहि – कहिये
- (२/४७)– अकर्मणि – कर्म न करने में
सङ्ग – आसक्ति
मा, भू – मत हो
- (६/२७)– अश्नासि – खाता है
जुहोषि – हवन करता है
- (८/७)– अनुस्मर – स्मरण कर
एष्यसि – प्राप्त होगा

17.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अहंकार त्याग क्यों करना चाहिए? उसके क्या लाभ हैं।
2. अर्जुन द्वारा कृष्ण से पूछा गया श्रेय का साधन क्या है ?
3. निष्काम कर्म का निरूपण करें ?
4. सम्पूर्ण कर्मों का ईश्वर निमित्त त्याग से क्या लाभ है ?

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य – गीताप्रेस, गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता साधारण भाषाटीकासहित – गीताप्रेस, गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप – भक्तिवेदान्तबुक ट्रस्ट
- श्रीमद्भगवद्गीता गीतातात्पर्यबोधिनी – श्रीशंकरानन्दसरस्वतीविरचित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- श्रीमद्भगवद्गीता – साधकसंजीवनी हिन्दीटीका – गीताप्रेस, गोरखपुर
- पातञ्जलयोगदर्शनम् – व्यासभाष्यसहित 'योगदीपिका' – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

इकाई 18 नैतिक गुणों का विकास

इकाई की रूपरेखा

- 18.0 उद्देश्य
- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 नैतिक गुणों का विकास (12/11, 13-19, 9/11) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
- 18.3 सारांश
- 18.4 शब्दावली
- 18.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 18.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- व्यक्ति के जीवन में नैतिक गुणों का विकास क्यों आवश्यक है इस विषय में जानेंगे।
- नैतिक गुण परोपकार के विषय में जानेंगे।
- जीवन में त्याग की भावना के विषय में जान सकेंगे।
- सभी प्राणियों के प्रति वैर भावना रहित, मित्रतायुक्त व्यवहार, जान सकेंगे।
- सत्य बोलना, मिथ्याभाषण से रहित आदि नैतिक गुणों के विषय में जानेंगे।
- समभाव से युक्त तथा पक्षपात रहित आदि नैतिक गुणों का विकास जीवन में परम आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- नैतिक गुणों से हमारे जीवन में क्या लाभ है यह जान सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

मानव जीवन में नैतिक गुणों का होना अति आवश्यक है जिनके प्रभाव से ज्ञानी तथा अज्ञानी सभी मनुष्य प्रभावित होते हैं नैतिक गुणों के विकास से हमारा जीवन समरसता, सरलता सहजता से युक्त हो जाता है उसी व्यक्ति का जीवन श्रेष्ठ माना जाता है जिसके जीवन में नैतिक गुणों का विकास हो। इसलिए गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को नैतिकता का उपदेश देते हैं। किसी के प्रति वैर की भावना न हो सभी के प्रति सहृदयता का भाव हो। दूसरों के प्रति कैसे हमारी परोपकार की भावना हो, मन में अहंकार का भाव न आये, सभी के साथ सम भाव रखें चाहे वह हमारा शत्रु ही क्यों न हो उसके प्रति भी वैरभाव नहीं रखना चाहिए, अपने जीवन में मिथ्या (झूठ) भाषण नहीं करना चाहिए। मन को संयमित करने वाला तथा अच्छे कार्यों में दृढनिश्चय संकल्प वाला हो। भय आदि द्वेषों से रहित हो। इस प्रकार 'नैतिक गुणों के विकास' के विषय में अधोलिखित प्रस्तुत 'नैतिक गुणों का विकास' नामक इकाई में विस्तृत वर्णन किया गया है।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥१२/११॥

अनुवाद —यदि उपयुक्त साधन को भी करने में असमर्थ है, तब मेरे प्रति योग में आश्रित होकर, मन— बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करनेवाला (आत्मस्थित) होकर सब कर्मोंके फलों का त्याग कर।

व्याख्या —यदि तुम उक्त रीतिसे जो पूर्व में बताया गया है — यदि तुम मुझे लक्ष्य करके मुख्यरूप से कर्मों का अनुष्ठान नहीं कर सकते, तो तुम्हारी इस बुद्धि द्वारा सम्पूर्ण क्रियमाण कर्मों को मुझ परमेश्वर में समर्पित करके अनुष्ठान करना ही मद्योग है। उसके आश्रित होकर मुझमें यह इच्छा, संकल्प से रहित निश्चयात्मक अन्तःकरण करके (यह सोचकर की मेरे मेरे द्वारा किये गये इस कर्म से परमात्मा प्रसन्न हो) समस्त कर्मों के फलों का त्याग कर।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१२/१३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२/१४॥

अनुवाद —जो पुरुष सभी प्राणियों में ईर्ष्या—द्वेष (शत्रु) भावसे रहित, मैत्री भाव वाला, दया करने वाला है तथा ममता से रहित, (मिथ्या) अहंकारसे रहित, दुःख तथा सुख की प्राप्ति में समान भाव और क्षमावान् है (तथा जो) योगी निरन्तर प्रसन्न संतुष्ट है, मन इन्द्रियों सहित शरीर को वशमें किये हुए है तथा मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, मुझमें अर्पित किये हुए मन तथा बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

व्याख्या —जो सभी प्राणियों में मन, वाणी, शरीर और कर्म से द्वेषभाव से रहित है तथा सभी प्राणियों को आत्मरूप से ही देखता है, जो सभी के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करता है अर्थात् मित्र भाव से रहता है, जो सभी जीवों पर दया करुणा करने वाला है, जो ममता से रहित और अहंकार से रहित है, जो पुरुष सुख—दुःख, मान—अपमान, हानि—लाभ, इन सभी में समभाव रखने वाला है अर्थात् जिसके अन्तःकरण में ये सभी राग—द्वेष उत्पन्न नहीं करते, और जो क्षमावान् है। जो शरीर में स्थित कारणरूप पदार्थों के गुणों से हमेशा ही संतुष्ट रहता है तथा जो अपने मन को परमात्मा में स्थित कर चुका है अर्थात् जिसका निश्चय आत्मतत्त्व के विषय में स्थिर हो चुका है, जो पुरुष अपने संकल्प—विकल्पात्मक मन और निश्चयात्मिका बुद्धि इन दोनों को मुझमें स्थापित कर चुका है, जो ऐसा मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है अर्थात् ज्ञानी पुरुषों के लिए मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी पुरुष मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१२/१५॥

अनुवाद —जिस पुरुष से कोई भी प्राणी विचलित नहीं होता और जो पुरुष स्वयं भी किसी प्राणी से विचलित नहीं होता या जो पुरुष सुख, दुःख, भय तथा चिन्ता से मुक्त है वह पुरुष मुझे प्रिय है।

व्याख्या —यह संसार जिस ब्रह्मवेत्ता के श्रवण, दर्शन और आगमन आदि से उद्विग्न अर्थात् (क्षुब्ध)संतप्त नहीं होता। और इस संसार में उपद्रव करने वाले चोर, सर्प, व्याघ्र आदि से जो स्वयं संतप्त नहीं होता तथा जो अपने अज्ञान द्वारा किये गये इन सभी मन के विकारों से मुक्त होकर अर्थात् हर्ष आदि के विपरीत धर्मों में हर्षाभाव, अमर्षाभाव, भय तथा उद्वेगादि से रहित होकर जो मेरी निष्ठा में ही अवस्थित रहता है वह भक्त मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मदभक्तः स मे प्रियः॥१२/१६॥

अनुवाद —जो पुरुष आकांक्षासे रहित, नित्यशुद्ध (कार्यों में कुशल) चतुर, पक्षपात से रहित तटस्थ और कष्टों से मुक्त, सब प्रकार के कर्मानुष्ठानों का त्याग करने वाला वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

व्याख्या —जो पुरुष देह, इन्द्रिय, विषय और उनके सम्बन्ध आदि स्पृहाके विषयों में अपेक्षा रहित निस्पृह है यानि सब कामनाओं से निर्मुक्त है, बाह्य एवं आंतरिक पवित्रता से युक्त और जो कर्तव्यों के प्राप्त हो जाने पर उन कर्तव्यों में से सहसा ही यथार्थ कर्तव्य को जो निश्चित करने में समर्थ है। जो किसी मित्र आदि के साथ पक्षपात न करने वाला तटस्थ उदासीन है, एवं जो भय से रहित है। जो युक्त अथवा अयुक्त आहार आदि कर्मों में अपने प्रारब्धानुसार शरीर, इन्द्रिय आदि के प्रवृत्त हो जाने पर स्वयं तटस्थ के सामान उदासीन और, साक्षी होकर अविक्रिय स्वरूप शान्तरूप में स्थित रहता है ऐसे लक्षणों से युक्त जो पुरुष है वह मेरा भक्त है तथा मुझे प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१२/१७॥

अनुवाद —जो (पुरुष) न कभी हर्षित होता है, न (कभी) द्वेष करता है, न (कभी) शोक करता है, न कभी कामना करता है तथा जो (पुरुष) शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मोंका परित्याग करता है — वह भक्ति से युक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

व्याख्या —जो पुरुष दूसरे की इच्छा से या अपनी इच्छा से इष्ट (इच्छित) वस्तु प्राप्त होने पर भी स्वयं प्रसन्न नहीं होता, और अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर जो कभी द्वेष नहीं करता, भारी अनिष्ट की प्राप्ति होने पर भी जो दुखी नहीं होता अर्थात् शोक नहीं करता, जो वस्तु पुरुष के पास नहीं है ऐसी अप्राप्त वस्तु की कामना जो नहीं करता, जो देह, इन्द्रिय आदि से ही किये गये कर्मों से स्वयं लिप्त नहीं होता, ऐसे शुभ और अशुभ कर्मों का परित्याग कर देने वाला, भक्ति से युक्त वह पुरुष मुझको प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१२/१८॥

अनुवाद —जो शत्रु और मित्रमें, मान एवं अपमान में समान रहता है, सरदी, गरमी, सुख — दुःखादि द्वन्द्व विषयों में समान रहता है तथा आसक्तिसे रहित है।

व्याख्या —सर्वात्मदर्शी पुरुष हमेशा ही अपकार करने वाले शत्रु और उपकार करने वाले मित्र में भेद नहीं करता, जो दूसरों के द्वारा प्राप्त होने वाले सत्कार एवं तिरस्कार दोनों में समान भाव रखता है, जिसके लिए शरद-शीत और उष्णता-गर्मी एक तुल्य

है, जो प्राप्त होने वाले सांसारिक दुखों और सुखों में समभाव रखने वाला तथा हमेशा सर्वत्र आसक्ति से रहित है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१२/१६॥

अनुवाद —जो (पुरुष) निन्दा — प्रशंसा को समान समझनेवाला, मौन चिन्तनशील और जिस किसी भी तरह से (जीवन यापन करने में) सदा ही सन्तुष्ट रहता है और निवास स्थान (बिना घरबारके) के बिना और आसक्तिसे रहित होता है — वह स्थिरबुद्धि भक्तिवाला पुरुष मुझको प्रिय है।

व्याख्या —जो निन्दा एवं स्तुति को समान समझने वाला है, जो पुरुष संयत वाक् वाला है अर्थात् जो वाणी को अपने वश में रखने वाला है, तथा जो पुरुष समस्त सांसारिक विषयों की आसक्ति से रहित होकर इस संसार में जिस किसी भी तरह इस शरीर का निर्वहन करता है हर परिस्थिति में वह संतुष्ट रहता है।

कहा भी गया है कि— जो जिस किसी अन्य मनुष्य द्वारा ही वस्त्रादि से ढका जाता है, एवं जिस किसी (अन्य) के द्वारा ही जिसको भोजन कराया जाता है, और जो जहाँ कहीं भी सोने वाला होता है उसको देवता लोग ब्राह्मण समझते हैं।

जो स्थान से रहित है अर्थात् जिसके पास रहने के लिए कोई निवास स्थान नहीं है और जिसकी बुद्धि मन आदि इन्द्रियों को संयम करके आत्मस्थ स्थिर हो गयी है ऐसा स्थिर बुद्धि वाला भक्ति से युक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥६/११॥

अनुवाद —मेरे श्रेष्ठ तत्त्व दिव्य स्वभाव को 'न जानते हुए विवेकहीन लोग, मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण प्राणियों के परम ईश्वर को तुच्छ साधारण (मनुष्य) समझते हैं अर्थात् अपनी योगमाया से संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।

व्याख्या —जो मूर्ख—अज्ञानी मनुष्य मेरे सर्वत्र स्थित ईश्वरीय विराट् स्वरूप को नहीं जानते, आत्म—रूप में मैं परमात्मा, सभी जीवों का परमेश्वर हूँ तथा आकाश की भाँति बल्कि आकाश से भी अत्यधिक सूक्ष्म रूप से इस जगत में व्याप्त हूँ इस परम परमात्मा को न जानने के कारण मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को हेय समझते हैं अर्थात् मेरा तिरस्कार करते हैं। इस प्रकार से मुझ परमात्मा का तिरस्कार करते हुए वे पामर जीव व्यर्थ ही मारे जाते हैं।

18.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें यह ज्ञात होता है कि मनुष्य के जीवन में नैतिक गुणों का विकास होना अत्यावश्यक है। जिनमें से जीवन में सम्पूर्ण प्राणिमात्र के प्रति हमारा स्नेह भाव हो, किसी के प्रति अपने मन में द्वेष अथवा शत्रुता का भाव न हो, प्रत्येक जीव के प्रति हमारे मन में सहानुभूति एवं दया का भाव हो, सब मेरा है इस ममत्व भाव से रहित और अहंकार से रहित हमारा जीवन होना चाहिए। हमारे जीवन में अनेक प्रकार के द्वन्द्व आते हैं जैसे सुख— दुःख, मान—अपमान, लाभ—हानि, इन

सभी में हमें सम भाव से रहना चाहिए क्योंकि ये द्वन्द्व हमारे जीवन में निरंतर आते जाते रहते हैं, हमेशा विद्यमान रहते हैं। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं — जो पुरुष देह, इन्द्रिय, विषय और उनके सम्बन्ध आदि सब कामनाओं से निर्मुक्त है, यथार्थ कर्तव्य कर्म निश्चित करने में जो समर्थ है, जो किसी मित्र आदि के साथ पक्षपात न करने वाला तटस्थ उदासीन है, जिसे किसी प्रकार का भय नहीं है, जो इष्ट (इच्छित) वस्तु प्राप्त होने पर भी स्वयं प्रसन्न नहीं होता, और अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर जो कभी द्वेष नहीं करता, जो देह, इन्द्रिय आदि से ही किये गये कर्मों से स्वयं लिप्त नहीं होता, अपकार करने वाले शत्रु और उपकार करने वाले मित्र में भेद नहीं करता, जिसके लिए शरद-शीत और उष्णता- गर्मी एक तुल्य है, जो पुरुष हमेशा सर्वत्र आसक्ति से रहित है, जो निन्दा — स्तुति को समान समझता है, जो वाणी में संयम रखने वाला है, जो हर परिस्थिति में संतुष्ट रहता है। इन सभी नैतिक गुणों से युक्त पुरुष मेरा भक्त है और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। मनुष्य जीवन को इस प्रकार के नैतिक गुणों से युक्त होना चाहिए, जो हर एक मनुष्य का जीवन एक-दूसरे के लिए उच्च कोटि का आदर्श बने।

18.4 शब्दावली

- (१२/११)– मद्योगम् — मेरी प्राप्ति रूप योग के यतात्मवान् — मन बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त कर लिया है जिसने
- (१२/१३-१४)– अद्वेष — द्वेषभाव से रहित निर्मम — ममता से रहित क्षमी — क्षमा करने वाला सततम् — निरन्तर
- (१२/१५)– हर्षामर्षभयोद्वेगैरू — हर्ष, अवमर्ष, भय, उद्वेग आदि से
- (१२/१६)– अनपेक्षः — आकांक्षा से रहित शुचिः — पवित्रता गतव्यथः — दुखों से छूटा हुआ दक्षः — चतुर
- (१२/१७)हृष्यति — हर्षित होना द्वेषि — द्वेष करता है
- (१२/१८)– संङ्गविवर्जित — आसक्ति रहित,
- (१२/१९)– मौनी — मननशील अनिकेत — स्थान से रहित, आश्रय से रहित

18.5 बोध /अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नैतिक गुणों के विकास से क्या तात्पर्य है ?
2. चार प्रकार के भक्तों के गुणों का निरूपण जिन्हें कृष्ण ने स्वयं का प्रिय कहा है ?
3. व्यक्ति के जीवन में नैतिक गुणों का होना क्यों आवश्यक हैं ?

18.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नैतिक गुणों का
विकास

- श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता साधारण भाषाटीकासहित – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप – भक्तिवेदान्तबुक ट्रस्ट
- श्रीमद्भगवद्गीता गीतातात्पर्यबोधिनी – श्रीशंकरानन्दसरस्वतीविरचित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- श्रीमद्भगवद्गीता – साधकसंजीवनी हिन्दीटीका – गीताप्रेस गोरखपुर
- पातञ्जलयोगदर्शनम् – व्यासभाष्यसहित 'योगदीपिका' – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 19 शारीरिक और मानसिक अनुशासन

इकाई की रूपरेखा

- 19.0 उद्देश्य
- 19.1 प्रस्तावना
- 19.2 शारीरिक और मानसिक अनुशासन (17/14–19, 6/36) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
- 19.3 सारांश
- 19.4 शब्दावली
- 19.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 19.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- शारीरिक तथा मानसिक तप का क्या लाभ है यह जान सकेंगे।
- मनुष्य के जीवन में तप क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे।
- किस प्रकार शारीरिक तप से शरीर में पवित्रता आती है यह जान सकेंगे।
- मानसिक तप के द्वारा मन में प्रसन्नता किस प्रकार से आती है यह जान पाएंगे।
- गम्भीरता, आत्म संयम, मन की पवित्रता आदि मानसिक तप का परिणाम जान पाएंगे।
- तप के द्वारा मन को संयमित और आत्म केन्द्रित करके परम मोक्ष लक्ष्य के विषय जान पाएंगे।

19.1 प्रस्तावना

तप मनुष्य के जीवन में आवश्यक है, तप का अर्थ केवल बैठकर आखों का निमीलन मात्र नहीं है। तप का अर्थ है सभी प्रकार के द्वन्दों को सहन करना, तप ही योग की प्रथम आवश्यकता है इसीलिए गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को तप का उपदेश देते हैं। जिनमें शरीर से सम्बन्धित तप, वाणी से सम्बन्धित तप तथा मन से सम्बन्धित तप, तीन प्रकार के तप के विषय में उपदेश देते हैं, वहीं तीनों शारीरिक मानसिक तथा वाचिक जिनका सात्विक तप के रूप में, राजसी तप के रूप में तथा तामसी तप के रूप में वर्णन किया गया है।

19.2 शारीरिक और मानसिक अनुशासन (17/14–19, 6/36) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७/१४॥

अनुवाद — देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी मनुष्यों की सेवा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा— इन्हें शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।

व्याख्या —देव—अग्नि इन्द्रादि, श्रोत्रिय आदि, गुरु —पिता, आचार्य, उपाध्याय आदि, प्राज्ञ ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी पुरुष आदि इन सभी का पूजन। शौच अर्थात् बाह्य—आभ्यन्तर की पवित्रता, आर्जव—सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा — किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचाना, इस प्रकार ये सभी शरीर द्वारा किये जाने वाले तप कहे गये हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१७/१५॥

अनुवाद — जो क्षोभ न करनेवाला, प्रिय एवं हितकारक सत्य वचन है, तथा (जो) वेद शास्त्रों का स्वाध्याय (अध्ययन) एवं परमेश्वरके नामका जप अभ्यास है, वही वाणी से सम्बन्धित तप कहा जाता है।

व्याख्या — जो वचन किसी भी प्राणी के मन को अनुद्वेग अर्थात् उद्वेग न उत्पन्न करने वाला, तथा जो सत्य—यथार्थ भाषण, मन तथा कानों को आनन्द देने वाला है इहलोक तथा परलोक में हित करने वाला है। दूसरे को किसी बात का ज्ञान कराने के लिए कहे हुए वाक्य में यदि सत्यता, प्रियता, हितकारिता और अनुद्विग्नता इन चारों का अभाव हो अथवा इनमें से किसी एक, दो या तीन का अभाव हो तो वह वाक्य सम्बन्धित तप नहीं कहा जायेगा। जैसे— सत्य वाक्य यदि एक, दो या तीन गुणों से हीन हो तो वो वाणी सम्बन्धी तप नहीं कहा जायेगा, उसी प्रकार प्रियवचन भी यदि एक, दो या तीन गुणों से हीन हो तो वह भी वाणी सम्बन्धी तप नहीं माना जायेगा, इसी तरह हितकारक वचन भी यदि तीनों गुणों से रहित हो तो वह भी वाणी का तप नहीं है।

यदि ये सब वाणी के तप नहीं हैं, तो फिर वह वाणी का तप कौन—सा है ? इस प्रकार से पूछे जाने पर, जो सत्य वचन हो और उद्वेग करने वाला न हो साथ ही साथ प्रिय लगने वाला और हितकारक हो, इन सभी गुणों से युक्त वाणी सम्बन्धी परम तप है। तथा यथाविधि वेदादि शास्त्रों का निरन्तर स्वाध्याय अध्ययन एवं परमेश्वर के नाम का निरन्तर अभ्यास करना भी वाणी सम्बन्धी तप कहा गया है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१७/१६॥

अनुवाद —मन की प्रसन्नता, सौम्य स्वभाव, (गम्भीर) वाक्यसंयम, आत्म संयम (स्वयंपर नियन्त्रण) और मन के भावों की भलीभाँति पवित्रता — इस प्रकार यह मन से सम्बन्धित तप कहा जाता है।

व्याख्या —मन को विषयों से भिन्न करके विकार रहित होकर स्वच्छता पूर्वक एकस्थित करना ही मन की परम शान्ति है, मुखादि को प्रसन्न करने वाली शुद्ध प्रवृत्ति तथा उपकार — अपकार, इष्ट—अनिष्ट आदि में पक्षपात छोड़कर मन का अवस्थान अर्थात् मन की अक्रूरता ही सौम्यता है। गम्भीर होना, वाक्य संयम तथा अन्तःकरण संयम, केवल वाणि मात्र का निरोध करना मौन नहीं है अन्यथा पशु आदि में भी मौन माना जायेगा। इसीलिए मन का निग्रह करके अर्थात् विषयों में प्रवृत्ति का रोकना और भाव की शुद्धि अर्थात् मन को रागादि दोषों से रहित करना, दूसरों के प्रति कपट भाव से रहित होना आदि, मुनियों द्वारा इसे मानसिक तप कहा गया है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७/१७॥

अनुवाद —परम श्रद्धासे किये हुए उस (पूर्वोक्त शरीर,वाणी,मन) तीन प्रकारके तपको, फल की इच्छा न करने वाले योगी पुरुषों के द्वारा, सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या —फल की इच्छा से रहित योगाभ्यास (समाधिमें रत) एकाग्र अन्तःकरण वाले मनुष्यों के द्वारा परम श्रद्धा से किया जाने वाला वह तीन प्रकार का कायिक, वाचिक और मानसिक तप है जो श्रेष्ठ ज्ञानी मुनियों द्वारा सत्त्वगुणजनित तप कहा गया है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१७/१८॥

अनुवाद —आदर, सम्मान और पूजा के लिये तथा पाखण्डसे भी (अन्य किसी स्वार्थ के लिए) जिस तप को किया जाता है वह यहाँ (इस संसार में) राजस (रजोगुणीतप) चंचल (अध्रुव) एवं क्षणिक कहा गया है।

व्याख्या —सत्कार — साधु, ब्राह्मण, विद्वान का पूजन और उनकी स्तुति करना सत्कार है, मान —(अभ्युथान) के लिए जो अपने से बड़ों को प्रणाम करना, दूर से आते हुए देखकर उनके सामने नतमस्तक हो जाना आदि मान—सम्मान है और पूजा — गन्ध, पुष्प, दक्षिणा आदि, वृद्धों के चरण प्रक्षालन, अर्चना करना भोजन आदि का कराना ये सभी पूजा है। इन सब के लिए और दम्भ अर्थात् अहंकार से जो तप किया जाता है वह राजस तप अर्थात् रजोगुणी राजसी तप कहा गया है, जो केवल इसी लोक में फल देने वाला कहा गया है, जो निश्चित फल वाला होने से नाशवान क्षणिक और अनित्य माना गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७/१९॥

अनुवाद —मूर्खता पूर्ण प्रयत्न से अपने ही (मन, वाणी और शरीर की) पीड़ाके सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करनेके लिये जो तप किया जाता है वह तप तामस (तमोगुणीतप) कहा गया है।

व्याख्या —तप तीन प्रकार के बताये गये हैं यहाँ तामस रूपी अर्थात् तमोगुणी तप के विषय में बताया गया है, जिसके लिए कहा गया है कि — जो साधक शरीर को कष्ट पहुचने वाला तथा दूसरे के बुरे (अभिचारण — मारण) विनाशके लिए अज्ञानता से उत्पन्न हुई श्रद्धा से किया जाने वाला ऐसा तप, ज्ञानी मुनियों द्वारा तमोगुणी तप कहा गया है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥६/३६॥

अनुवाद —जिसके द्वारा मन वशमें नहीं किया गया है, (ऐसे पुरुषद्वारा) आत्म—साक्षात्कार प्राप्त करना दुर्लभ है — यह मेरा मत है, और प्रयत्नशील (पुरुष द्वारा) संयमित किये हुए मनवाले साधनसे उसका (आत्माका) प्राप्त होना सहज है।

व्याख्या —जिस पुरुष ने अपने अन्तस्थ आत्मा (मन) और इन्द्रियों को निरन्तर अभ्यास पूर्वक प्रयत्न से वश में नहीं किया, ऐसे पुरुष द्वारा (योग प्राप्त) आत्मा का साक्षात्कार

करना कठिन है — ऐसा मेरा मानना यह मेरा मत है। परन्तु जिस पुरुष के द्वारा तीव्र मोक्ष तथा तीव्र वैराग्य से प्रयत्नपूर्वक अभ्यास द्वारा आत्मा, मन, और इन्द्रियों को वशीभूत करके अर्थात् सभी बाह्यान्तर विषयों से रहित करके, यथा समय साधनों से आत्मा का साक्षात्कार करना सहज है।

19.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् हमें यह ज्ञात होता है कि मनुष्य के जीवन में शारीरिक मानसिक अनुशासन होना आवश्यक है। जिसके लिए मुख्य रूप से तीन प्रकार के तप बताये गये हैं, जिनमें से सबसे पहले शारीरिक तप के विषय में बताया गया है, देवता, ब्राह्मण और गुरु इन सभी का सम्मान, सत्कार तथा पूजन करना, शरीर की बाहरी और आन्तरिक शुद्धि, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि को शारीरिक तप कहा गया है इन सभी को हमें अपने जीवन में धारण करना चाहिए तब वह हमारा शारीरिक तप कहा जायेगा। दूसरा हमें वाणी का तप बताया गया है, जो सत्य वचन हो और उद्वेग करने वाला न हो, साथ ही साथ प्रिय लगने वाला और हितकारक हो, इन सभी गुणों से युक्त वाणी सम्बन्धी परम तप है। जिसका अनुसरण हमें अपने जीवन में अवश्य करना चाहिए। तीसरा मानसिक तप के विषय में बताया गया है। वाक्य संयम तथा अन्तःकरण संयम, मन का निग्रह करके अर्थात् विषयों में प्रवृत्ति का रोकना और भाव की शुद्धि अर्थात् मन को रागादि दोषों से रहित करना, दूसरों के प्रति कपट भाव से रहित होना आदि, मुनियों द्वारा इसे मानसिक तप कहा गया है। इस प्रकार से फल की इच्छा से रहित योगाभ्यास (समाधि में रत) एकाग्र अन्तःकरण वाले मनुष्यों के द्वारा परम श्रद्धा से किया जाने वाला वह तीन प्रकार का कायिक, वाचिक और मानसिक तप है जो श्रेष्ठ ज्ञानी मुनियों द्वारा सत्त्वगुणजनित तप कहा गया है। दूसरा राजसी तप — जो दूसरों का मान, सम्मान, आदर, सत्कार, पूजन आदि अहंकार के साथ करता है वह राजसी तप कहा जाता है यह तप क्षणिक अनित्य और नाशवान कहा गया है। तीसरा तमोगुणी तप — जो साधक शरीर को कष्ट पहुंचने वाला तथा दूसरे के बुरे विनाशके लिए अज्ञानता से उत्पन्न हुई श्रद्धा से किया जाने वाला तप है उसे तमोगुणी तप कहा गया है। इस प्रकार से शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों के संयोग से होने वाले तीन प्रकार के सात्विक राजसी तथा तामसी तप के विषय में बताया गया है, जिनमें से श्रेष्ठ ऋषि मुनियों द्वारा बताये गये सात्विक तप को हमें अपने जीवन में धारण करना चाहिए इस प्रकार से कहा गया है।

19.4 शब्दावली

- (१७/१४)– आर्जवम् — सरलता
शौचम् — पवित्रता
- (१७/१५)– अनुद्वेगकरम् — उद्वेग न करने वाला
वाङ्मयम् — वाणी से युक्त
- (१७/१६)– मनः प्रसादः — मन की प्रसन्नता
आत्मविनिग्रह — मन का निग्रह
- (१७/१७)– अफलाकाङ्क्षिभिः — फलों को न चाहने वाला
परया — परम

मन पर नियंत्रण के उपाय

- (१७/१८)– दम्भेन – पाखण्ड से अथवा, अहंकार से
अध्रुवम् – अनिश्चित
- (१७/१९)– मूढग्राहेण – मूढतापूर्वक हठसे
उत्सादनार्थम् – अनिष्ट करने के लिए
- (६/३६)– असंयतात्मना – मन वश में नहीं है जिसका
वश्यात्मना – जिसका मन वश में है
यतता – प्रयत्नशील
मे– मेरा

19.5 बोध / अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. शरीर आदि तीन तपों का प्रतिपादन कीजिये।
2. त्रिविध सत्व, रजस, तमस तप का निरूपण कीजिये।
3. हमारे जीवन में शारीरिक और मानसिक अनुशासन होना क्यों जरूरी है?

19.6 – कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता साधारण भाषाटीकासहित – गीताप्रेस गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप – भक्तिवेदान्तबुक ट्रस्ट
- श्रीमद्भगवद्गीता गीतातात्पर्यबोधिनी – श्रीशंकरानन्दसरस्वतीविरचित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- श्रीमद्भगवद्गीता – साधकसंजीवनी हिन्दीटीका – गीताप्रेस गोरखपुर
- पातञ्जलयोगदर्शनम् – व्यासभाष्यसहित 'योगदीपिका' – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

इकाई 20 संतुलित जीवन

इकाई की रूपरेखा

- 20.0 उद्देश्य
- 20.1 प्रस्तावना
- 20.2 संतुलित जीवन (3/8, 6/16-17) श्लोक, अनुवाद और व्याख्या
- 20.3 सारांश
- 20.4 शब्दावली
- 20.5 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 20.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- सन्तुलित जीवन का महत्त्व जान सकेंगे।
- किस प्रकार नियमित कर्म करने से जीवन का संतुलन बना रहता है यह जानेंगे।
- क्यों नियमित कर्म करते रहना चाहिए इस विषय में जानेंगे।
- अकर्मण्य होने से मनुष्य का जीवन व्यर्थ क्यों हो जाता है इसका ज्ञान होगा।
- योग की सिद्धि हो इसके लिए शारीरिक संतुलन का होना आवश्यक है यह समझ पाएंगे।

20.1 प्रस्तावना

गीता में कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए संवाद में कृष्ण द्वारा अर्जुन के अनेक संशयों का निराकरण किया जाता है तथा अनेक जीवन के रहस्यों और उद्देश्यों का उपदेश दिया जाता है जिसमें 'संतुलित जीवन' एक मुख्य विषय है। जिसमें कृष्ण अर्जुन को संतुलित जीवन से क्या लाभ होता है इस विषय में बताते हैं। संतुलित जीवन हेतु मनुष्य के लिए नियमित कर्म करना श्रेष्ठ तथा अकर्मण्यता को कृष्ण हेय बताते हैं। योग के लिए स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है, इसलिए स्वस्थ शरीर रखने के लिए साधक को किस प्रकार अपने भोजन पर नियन्त्रण करना चाहिए, जिससे वह शारीरिक कष्टों तथा आलस्यादि विकारों से मुक्त होकर स्वयं को प्रमाद रहित योगाभ्यास में रत रखे। जरूरी है कि वह आहार हमारे जीवन में सन्तुलित हो। तीन प्रकार के आहार कहे गये हैं – सात्विक आहार, राजसी आहार तथा तामसी आहार, योगाभ्यासी कौनसे आहार को ग्रहण करें, कितने परिमाण तुल्य वह भोजन का ग्रहण करें। इस प्रकार संतुलित जीवन के विषय में अधोलिखित प्रस्तुत 'संतुलित जीवन' नामक इकाई में विस्तृत वर्णन किया गया है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥३/८॥

अनुवाद —तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है कर्म न करनेसे तेरा शरीर — निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ।

व्याख्या —जो कर्म वेदादि श्रुतियों में फल रहित बताये गये हैं, ऐसे जिस कर्मका जो अधिकारी है उसके लिए वह नियत कर्म है, ऐसे नियत कर्म अर्थात् नित्य कर्म का तू आचरण कर, अकर्म — जिससे पुरुषको कर्मबन्धन न हो वह अकर्म है यानि (संन्यास है)। मूढ़ पुरुष द्वारा किये गये अकर्म से विवेकी पुरुष द्वारा किया गया मोक्ष का साधनरूप कर्म श्रेष्ठ है, यद्यपि संन्यास कर्म वेदादि श्रुति द्वारा श्रेष्ठ बताया गया है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु 'विवेकी पुरुष द्वारा प्रयुक्त साधन, कार्य का साधक होता है' इस न्याय से "मैं कर्म नहीं करता, इस प्रकार के अभिमानवाले अविवेकी पुरुष द्वारा किये गये संन्यास (अकर्म) की अपेक्षा 'मैं परमेश्वर की भक्ति करके इस संसार रूपी भवसागर से सहज ही पार हो जाऊंगा' इस प्रकार ईश्वर को समर्पित बुद्धि से अभिमानरहित मोक्षकी इच्छा रखने वाले विवेकी पुरुष द्वारा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि इस संसार में कर्म न करने से शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता यह प्रत्यक्ष है इसलिए कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेयस्कर और श्रेष्ठ है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६/१६॥

अनुवाद —हे अर्जुन ! न तो अधिक भोजन खाने वाले का योग (सिद्ध होता है), और न बिल्कुल भोजन (त्याग) करने वाले का, और न ही अत्यधिक शयन करने वाले का, और न हमेसा जागे हुए का ही (योग सिद्ध) होता है।

व्याख्या —योगी के लिए उपयुक्त आहार नियम — बहुत भोजन करने वाले का अर्थात् जितनी पेट की क्षमता है उससे से अधिक भोजन करने वाले का योग सिद्ध नहीं होता, और न ही बिल्कुल न खानेवाले का योग सिद्ध होता है, क्योंकि यह श्रुति है कि 'जो अपने उदर(पेट) की क्षमता के अनुसार अन्न खाता है वह अन्न उसकी (जीव की) रक्षा करता है, यह पीड़ा नहीं देता। जो भोजन अधिक खाता है वह हानि पहुँचाता है और जो प्रमाण से कम होता है जितनी आवश्यकता शरीर की है उतना भोजन का न मिलना शरीर के लिए प्रतिकूल है, इसलिए वह रक्षा नहीं करता।' इसलिये साधक को चाहिये कि शरीर की उदरपूर्ति के लिये जितना भोजन उपयुक्त हो उतना ही ग्रहण करें, उसमें कम या ज्यादा अन्न न खाये। योगी के लिये कितना खाना उपयुक्त है योग शास्त्रमें इस विषय में कहते हैं कि — अन्नका जो परिमाण है उससे अधिक खाने वाले का योग सिद्ध नहीं होता। इसलिए संतुलित परिमाण यह है कि पेट का आधा भाग अर्थात् दो हिस्से तो शाक — पात आदि सहित भोजन के लिए, तीसरा भाग जलसे पूर्ण होना चाहिये वहीं चौथा भाग वायुके आवागमन के लिये खाली रखना चाहिये इत्यादि। तथा हे अर्जुन ! इसी प्रकार न तो बहुत सोने वाले का ही योग सिद्ध होता है और न ही अधिक जागने वाले को ही योग — सिद्धि प्राप्त होती है।

अनुवाद —नियमित आहार—विहार (आमोद—प्रमोद) करने वाले का, (धार्मिक) कार्यों में यथासमय इच्छा रखने वाले का, समयानुसार निन्द्रा तथा जागरण करने वाले का, योगाभ्यास दुःखों का नाश करने वाला होता है।

व्याख्या —योग की सिद्ध कैसे होती है ? — यह कहते हैं। भोजन उतना ही करें जितना उदर(पेट) के लिए आवश्यक हो जितने में पेट की पूर्ति हो उतना ही खाएं उससे अधिक नहीं, योगाभ्यासी के लिए शास्त्रानुकूल परिमित आहार— विहार होता है। विहार — अर्थात् पैरों की क्रिया अत्यधिक संचलन न हो, और कर्मों में जैसे भोजन विसर्गादि क्रियाओं में जिसकी चेष्टा नियमित परिमाणसे होती है अर्थात् जितनी से कार्य सिद्धि हो जाय उतनी, निद्रा और जागरण ये दोनों कार्य ही जिसके समयानुसार हैं—परिमित हैं अर्थात् 'दश नाड़ी (घड़ी) जागे, दश नाड़ी निन्द्रा लें, पीछे दश नाड़ी जागे, इस प्रकार से योगी की दश नाड़ियाँ बतायी गयी हैं। आहार—विहार, निद्रा के अधिक होने से राजस और तामस की वृद्धि होती है। जिससे समाधि में विघ्न होता है। इसीलिए इन सभी का परिमित एक समान होना आवश्यक है इस प्रकार के लक्षणों से युक्त 'योग' साधक के दुखों का नाश करने वाला होता है।

20.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें यह ज्ञात होता है कि मनुष्य के जीवन में संतुलन होना आवश्यक है अन्यथा मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ हो जायेगा। संतुलित जीवन के लिए कर्म करना आवश्यक है और वह कर्म कैसा हो इसके लिए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं जो पुरुष 'मैं परमेश्वर की भक्ति करके इस संसार रूपी भवसागर से सहज ही पार हो जाऊंगा' इस प्रकार ईश्वर को समर्पित बुद्धि से अभिमानरहित मोक्षकी इच्छा रखने वाले ज्ञानी पुरुष द्वारा कर्म करना ही श्रेष्ठ है अर्थात् हम जो भी कर्म करें उसे परमात्मा को समर्पित करके करें। जीवन के संतुलन को बनाये रखने के लिए निरंतर कर्म करते रहना चाहिए अकर्मण्य बिना कर्म किये हुए जीवन अग्रसरित नहीं होता, जो मनुष्य अकर्मण्य हो जाता है उसका जीवन भी असंतुलित हो जाता है इसलिए कर्म न करने से जीवन में कर्म करना ही श्रेयस्कर और श्रेष्ठ है। उसी प्रकार संतुलित जीवन जीने के लिए संतुलित आहार का होना भी अत्यावश्यक है इसलिए हमें अपने दिनचर्या में सम्मिलित भोजन को भी संतुलित रूप में ग्रहण करना चाहिए। जितने भोजन की हमारे शरीर को आवश्यकता हो उतने ही भोजन को हमें ग्रहण करना चाहिए न उससे अधिक और न ही उससे कम। अन्यथा शरीर व्याधि, मानसिक असंतुलन, निद्रा में बाध, कृषता, आलस्य, योगाभ्यास करने में बाधा आदि अनेक समस्याएं आयेंगी। अत्यधिक सोना तथा अत्यधिक जागना भी जीवन के संतुलन को हानि पहुँचाता है। निद्रा के अधिक होने से राजस और तामस गुणों की वृद्धि होती है। जिससे योग समाधि में विघ्न होता है। इसीलिए इन सभी का परिमित एक समानतुल्य होना आवश्यक है इस प्रकार के लक्षणों से युक्त 'योग' साधक के दुखों का नाश करने वाला होता है।

20.4 शब्दावली

- (३/८)– अकर्मण – विना कर्म के
ज्याय – श्रेष्ठ
- (६/१७)– युक्ताहार – विहार – यथायोग्य आहार–विहार करने वाला
- (६/१८)– विनियतम् – वश में किया हुआ
निरुस्पृह – स्पृहा रहित,

20.5 बोध / अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन्तुलित जीवन से क्या लाभ है ? निरूपण कीजिये
2. योगसिद्धि के लिए आहार आदि का नियंत्रण किस प्रकार करना चाहिए ?
3. किस प्रकार पुरुष को योग की सिद्धि होती है ? इसका प्रतिपादन कीजिये

20.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य – गीताप्रेस, गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता साधारण भाषाटीकासहित – गीताप्रेस, गोरखपुर
- श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप – भक्तिवेदान्तबुक ट्रस्ट
- श्रीमद्भगवद्गीता गीतातात्पर्यबोधिनी – श्रीशंकरानन्दसरस्वतीविरचित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- श्रीमद्भगवद्गीता – साधकसंजीवनी हिन्दीटीका – गीताप्रेस, गोरखपुर
- पातञ्जलयोगदर्शनम् – व्यासभाष्यसहित 'योगदीपिका' – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

IGNOU DIGI NEWS

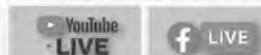
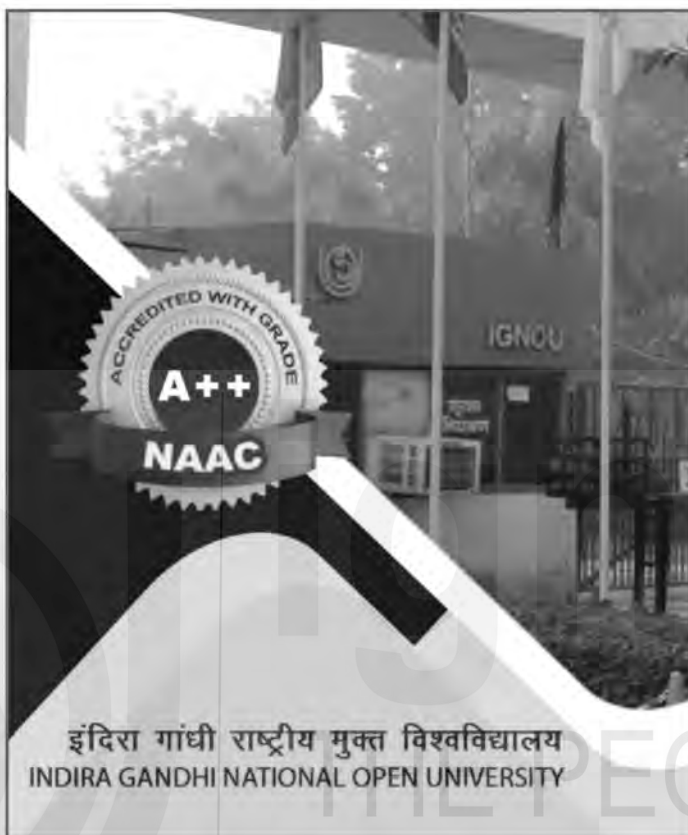
IGNOU DIGI NEWS
2021 May-2022
SOFT

Indira Gandhi National Open University
School of Engineering and Technology
One Day Webinar
Development of Technology in
India since Independence
On National Technology Day

IGNOU DIGI NEWS
2021 May-2022
RC- Delhi 1
Monitoring of UGC's (Sust.) Course Formulating Session of (NAGP) Programme



IGNOU DIGI NEWS
2021 May-2022
RC- Mumbai
Monitoring B.Ed workshop



online_admission



eGyankosh



eContent App



www.ignou.ac.in



Facebook



Twitter



Instagram

QR Code generated for
quick access by Students

IGNOU website
eGyankosh
e-Content APP
Facebook (@officialPageIGNOU)
Twitter (@OfficialIGNOU)
Instagram (officialpageignou)
On line admission

**Like us, follow-us on the University
Facebook Page, Twitter Handle and Instagram**

To get regular updates on Placement Drives, Admissions,
Examinations etc.

www.ignou.ac.in

MPDD/IGNOU/P.O./5K/AUGUST, 2022



ISBN : 978-93-5568-489-9